■ वर्ष 43, अंक 5, जुलाई 2020 ■ मूल्य 20 रुपये

■ कैसा हो भारत-चीन संबंध

■ तिब्बत मुक्ति का तकाजा

■ भारत-नेपाल के बीच खटास क्यों

■ कोरोना के सबक

■ गिरधर राठी की कविताएं ■ स्मृति शेषः वीरेंद्र कुमार बरनवाल

कविता

गिरधर राठी की दो कविताएं

ठोसलैंड की सैर

ठोसलैंड की सैर
कुछ ठोस मुद्दों पर कुछ ठोस रोशनी गिरी
हवाई सवालों को
हवाई जवाब ले उड़े।

काल्पनिक सिर
अब ठोस हाथों में था।

कुछ ठोस 'निचुड़ा'।
□

ठोस चीजों पर ठोस
सोचना था

गनीमत थी कि हवा अनहद ठोस नहीं थी
और हम सब जो थे सांस ले सकते थे।
आँख को भी थोड़ी राहत थी-
ठोस रही, इधर-उधर घूम सकी।
□

भूख कतई ठोस थी।
उस पर दिल्लगी बुरी होती
हल्की-फुल्की दिल्लगी खासकर बुरी

यह ठोस खाती रही।
मछली की मछली को आदमी की आदमी को
आदमी की भूख मछली और आदमी दोनों को।

सिलसिला कुछ इतना ठोस
कि पूरे प्रवास में
कुछ और न हो पाता

मगर ठोस पेट ने ठोस 'ना' कर दी।

सैर यह अलहदा थी,
फिर भी अवशेष थे।

प्रस्ताव-ठोस-आया।
□
ठोस किस्म का ठोस प्रस्ताव था।
ठोस प्रेम करना था, करना भी ठोस।
ठोस वह लड़की, ठोस ही लड़का।

प्रिय ठोस पाठक,
आँखों को सांसों को राहत थी।

मगर शब्द-
वे इतने ठोस थे
कि ठोस कान के पर्दे
कुछ ठोस टुकड़ों में बिखर गए।
□

सनद रहे!
हम नहीं लौटे।
लौटना ठोस अगर होगा
तो लौटेंगे।

तुरत बुद्धि का कमाल

सूरज नहीं, लू आधी रात में
जिसे हर तरह से महसूस किया जा सकता है-
आँख में किरकिरी, श्वास-अवरोध, औचक थपेड़े।

न आती तो अचंभ था-
आधी रात में लू।
(लू पर किसका वश है?)।
सूरज उगता अगर आधी रात
सुर्खियां बनतीं अखबार बिकता।
मरे कुछ हजार आधी रात लू से
तब भी बिका।
न मरे होते लू से
मरते बरसात से, ठंड से, आग से
तब भी बिकता।
(मौत पर किसका जोर है?)।

मरने वाले मरते ही
अखबार बिकता ही
मरते ही आये हैं लोग
और लू भी तो
याद किसे, कब से, चलती आई है!

(उनींदे की लोरी 1985)

सामयिक वार्ता

जुलाई 2020, वर्ष 43, अंक : 5

संस्थापक संपादक : किशन पटनायक

संपादक : अफलातून

संपादन सहयोग
प्रो. बलबीर जैन, अरविन्द मोहन, हरिमोहन, राजेन्द्र राजन, सत्येन्द्र रंजन, प्रियदर्शन, अरुण त्रिपाठी, प्रो. महेश विक्रम सिंह, लोलार्क द्विवेदी, संजय गौतम, चंचल मुखर्जी, कमल बनर्जी, संजय भारती

परामर्श मंडल
सच्चिदानंद सिन्हा, प्रो. कश्मीर उप्पल, स्मिता
रूप सज्जा : राम सिंह

कार्यालय : 20ए, समसपुर जागीर, पांडवनगर, दिल्ली–110091
ईमेल : varta3@gmail.com

सदस्यता शुल्क :

एक प्रति	:	20 रुपए
वार्षिक शुल्क	:	200 रुपए
संस्थागत वार्षिक शुल्क	:	300 रुपए
छह साला शुल्क	:	1000 रुपए
आजीवन शुल्क	:	3000 रुपए

खाता नाम : सामयिक वार्ता
या Samayik Varta
बैंक ऑफ बड़ौदा (Bank of Baroda)
शाखा : सोनारपुरा, वाराणसी (उ.प्र.)
Sonarpura, Varanasi (U.P.)
खाता संख्या : 40170100005458
IFSC Code : BARB0SONARP
(यहां दूसरे B के बाद जीरो है, ओ नहीं, S के बाद o (ओ) है।)
MICR CODE : 221012030
(इस खाते में पैसे जमा करने तथा ग्राहक के पते की सूचना ई-मेल अथवा मोबाइल 08765811730/ 08004085923 पर दें।)

संपादकीय

चीन के सामने डटकर खड़े होने की जरूरत

भारत-चीन का संबंध सदियों पुराना है। दोनों देशों के बीच संपर्क का काम करने वाला तिब्बत भी उतना ही पुराना और स्वतंत्र देश रहा है। भारत-चीन के बीच तिब्बत के साथ ही नेपाल, भूटान, जैसे छोटे देश भी रहे हैं जो सीधे चीन से सीमा न मिलने पर भी चीन के रास्ते में महत्वपूर्ण पड़ावों का दायित्व निभाते रहे हैं।

इस संबंधों की हकीकत के बीच दोनों देशों के बीच 1962 में युद्ध हो चुका है। इसके बाद 1965 और 1975 में भी दोनों देशों के बीच हिंसक झड़पें हुईं। यह चौथा मौका है जब भारत-चीन सीमा पर स्थिति इतनी तनावपूर्ण है। 15-16 जून की रात को लद्दाख के गलवान घाटी में भारत-चीन सीमा पर दोनों देशों के बीच जो कुछ हुआ, उसे भारत के लिए सुखद नहीं कहा जा सकता है।

इस रात एलएसी पर हुई इस झड़प में भारतीय सेना के एक कर्नल समेत 20 सैनिकों की मौत हो गई। भारत का दावा है कि चीनी सैनिकों का भी नुकसान हुआ है, लेकिन इस झड़प में चीनी पक्ष के जान-माल की कितनी हानि हुई है, इसके बारे में चीन की ओर से कोई स्पष्ट वक्तव्य सार्वजनिक नहीं किया गया है। इसके बाद तनाव और बढ़ चुका है। दोनों ही देश एक-दूसरे पर अपने इलाकों के अतिक्रमण करने का आरोप लगा रहे हैं।

बताया जा रहा है कि गलवान घाटी में भारत-चीन लाइन ऑफ एक्चुअल कंट्रोल (एलएसी) पर हुई झड़प में चीन की ओर से हथियार के तौर पर लोहे की रॉड का इस्तेमाल हुआ जिस पर कीलें लगी हुई थीं।

भारत-चीन सीमा पर गलवान घाटी में हुए विवाद के बीच कई लोग इसकी तुलना डोकलाम में 2017 में हुए विवाद से कर रहे है। डोकलाम में भारत और चीन की सेना 73 दिनों तक आमने-सामने थी। लेकिन तब संघर्ष हिंसक नहीं हुए। लेकिन इस बार स्थिति भयावह और शर्मनाक रही। विशेषज्ञ इन झड़पों को चीन की 'वन बेल्ट वन रोड' परियोजना से जुड़ा बताते हैं। भारत ने इस 2017 में परियोजना का हिस्सा बनने से इनकार कर दिया था। इसी के बाद डोकलाम से लेकर लद्दाख तक विवाद बढ़ गया है।

यह मामले हालिया हैं। लेकिन इसकी जड़ में जाने पर पता चलता है कि इसके लिए भारत सरकार की नीति शुरू से जिम्मेदार रही है। आजादी के बाद भारत सरकार ने तिब्बत से संबंध को लेकर उदासीनता दिखाई और चीन के पक्ष में दुनिया भर में अभियान चलाया। चीन में कम्युनिस्ट पार्टी के सत्तारूढ होने पर भारत सरकार की ओर से नवोदित देश को आगे बढ़ाने और विश्व प्रतिष्ठा दिलाने में दरियादिली दिखाई गई और उसे संयुक्त राष्ट्र में वीटो शक्ति बनाने में अहम भूमिका निभाई। यह सब बातें पड़ोसी और एशियाई देश होने के नाते ठीक भी कहा जा सकता है। लेकिन तिब्बत को लेकर उदासीनता ने भारत के किए-कराए पर पानी फेरने का काम किया।

तिब्बत केवल भारत का पड़ोसी ही नहीं, बल्कि चीन के बीच में बफर स्टेट के रूप में काम करता रहा है। यही कारण है कि करीब तीन हजार साल के ज्ञात इतिहास में भारत और चीन में कोई पूर्ण और उल्लेखनीय युद्ध नहीं हुआ है। बल्कि व्यापार और सांस्कृतिक संबंध ही बढ़े हैं। चीनी यात्रियों के भारत भ्रमण इतिहास प्रसिद्ध रहे हैं, वहीं रेशम मार्ग से मध्य एशिया तक से भारत का व्यापारिक संबंध तिब्बत-चीन के रास्ते ही चला, जिस क्रम में बामियान की विख्यात बुद्ध मूर्तियां बनीं।

1950 में तिब्बत पर चीनी अतिक्रमण के समय भारत का मुंह देखते रहने से सब कुछ चीन के पक्ष में होता चला गया। यहां तक कि सड़क निर्माण से तिब्बत का विकास करने की बात करने वाला चीन ने 1959 में तोप और टैंक उसी सड़क से लाकर तिब्बत पर कब्जा कर लिया और जनविरोध होने पर उसे बर्बरता से कुचला। यहां तक कि तिब्बत के सर्वोच्च धर्मगुरु दलाई लामा को भारत में पलायन करना पड़ा।

इसके बाद दशकों तक दोनों देशों के संबंध ठंडे बस्ते में पड़े रहे। 1988 में भारत की पहल पर इस संबंध में गर्माहट आई। लेकिन तिब्बत का मसला तब भी नहीं उठा। भले ही भारत की संसद ने चीन के हमले के बाद ही तिब्बत को आजाद कराने का संकल्प पारित किया था।

भारत इसे लंबे अरसे से सुलझाने का प्रयास कर रहा है। लेकिन अनुभव बताते हैं कि भारत ज्यों-ज्यों पीछे हटा, चीन उतना ही आगे बढ़ता गया है। 2003 में भारत द्वारा तिब्बत को चीन का अभिन्न अंग मान लेने के अगले कदम के तौर पर ही चीन ने अरुणाचल प्रदेश को दक्षिण तिब्बत कहना शुरू कर दिया। सिक्किम को मान्यता देने के बाद उस सीमा पर चीन की हरकतें शुरू हो गई। असल में चीन दलाई लामा को भारत में रहने से चिढ़ा है और वह अरुणाचल प्रदेश, खासकर तवांग मठ पर कब्जा चाहता है ताकि छह दलाई लामाओं से जुड़े इस मठ को चीन का

दिखाकर तिब्बत पर अपनी वैधानिकता को साबित कर सके। दूसरी ओर आधुनिक दुनिया पर अपने बाजारवादी-साम्राज्यवादी धौंस जमाने के लिए वह लद्दाख पर कब्जा चाहता है ताकि चीन-पाकिस्तान आर्थिक गलियारे के रास्ते वह छोटे रास्ते से समुद्र में पहुंच सके।

भारत को इन दोनों मुद्दों पर अब भी मजबूती दिखानी चाहिए और तिब्बत पर अपने रुख में परिवर्तन लाकर उसे स्वतंत्र कराने के लिए दुनिया भर में अभियान चलाना चाहिए। चीन तो समझौता अपनी ही शर्तों पर करना चाहेगा। इसलिए उससे समझौते की आस नहीं रखना चाहिए। भारत को यह भी समझ लेना चाहिए कि चीन की ओर हालिया घटनाएं तवांग और लद्दाख पर कब्जे से भी आगे जाती है, जो उसकी दीर्घकालिक रणनीति का हिस्सा है। इस दीर्घकालिक रणनीति का लक्ष्य पचास के दशक में ही माओ त्से तुंग ने 'राइट हैंड पाम एंड इट्स फाइव फिंगर' यानी दाईं हथेली और पांच उंगलियों के रूप में तय कर दिया था। इसमें हथेली तो तिब्बत है जबकि पांच उंगलियां- अरुणाचल, भूटान, सिक्किम, नेपाल और लद्दाख है, जिस पर देर-सबेर चीन को अपना प्रभुत्व स्थापित करना है। इसका संकेत दिख भी रहा है, जब सदियों से भारत के मित्र नेपाल पर चीन ने डोरे डालना शुरू किया और अब तो नेपाल के प्रधानमंत्री केपी शर्मा ओली इस हद तक जाकर भारत के खिलाफ विष उगल रहे हैं कि उनकी ही पार्टी के अन्य नेताओं और पूर्व माओवादी राष्ट्रपति पुष्प कमल दहल प्रचंड को ही उनके खिलाफ मोर्चा खोलना पड़ गया है। यहां भी संभवतः चीन पहली बार नेपाल की आंतरिक राजनीति में हस्तक्षेप कर रहा है और ओली को बचाने में जी जान से जुटा हुआ है।

ऐसे में भारत को दृढ लेकिन दीर्घकालिक लक्ष्य को लेकर कदम उठाने की जरूरत है। उसे दुनिया के सामने यह साबित कर देना चाहिए कि वह इंतजार कर सकता है लेकिन न तो दबाव में आएगा और न ही झुकेगा। तिब्बत की आजादी उसकी प्राथमिकता में होनी चाहिए और चीन के साथ बिना हिंसा के संबंध सुधार में यह अहम पड़ाव भी होना चाहिए। हो सकता है कि चीन इससे और भड़क उठे और कुछ इलाकों पर कब्जा करने की कोशिश करे, लेकिन भारत को इसके दबाव में आए बिना अपनी मुहिम में लगा रहना चाहिए। हां यहां यह जरूर है कि भारत को इसके लिए सही मायनों में स्वावलंबी, आत्मनिर्भर बनना पड़ेगा, केवल जुमलों में जाकर 'आत्मनिर्भर' नहीं। ▪

हत्या की राजनीति और राजनीति की हत्या

उत्तर प्रदेश की राजनीति, पुलिस बल, सिविल प्रशासन, और कनीय न्यायपालिका भी दशकों से भ्रष्टाचार, गुटबाज़ी, जातिवाद, और साम्प्रदायिकता से ग्रस्त रही है। साठ साल पहले इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायाधीश आनन्द नारायण मुल्ला ने उत्तर प्रदेश पुलिस को 'देश के सबसे बड़े संगठित आपराधिक गिरोह' की संज्ञा दी थी।

तीन साल से चल रही महंत आदित्यनाथ की सरकार ने शासन के सभी अंगों में इन खराब और लोकतंत्र विरोधी प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया है। 2017 में मुख्यमंत्री बनने के तुरंत बाद आदित्यनाथ ने खुले तौर पर घोषणा की थी कि उसकी सरकार ने नीतिगत तौर पर पुलिस द्वारा नागरिकों की हत्या (तथाकथित एनकाउंटर) करने का फरमान दे दिया है। कुछ दिनों बाद ही पुलिस ने पत्रकारों को न्योता देकर ऐसी एक हत्या सरेआम दिखाई। एक वर्ष से देश और उत्तर प्रदेश में चल रहे एनआरसी, सीएए, और एनपीआर के विरुद्ध चल रहे शांतिपूर्ण आंदोलन के कार्यकर्ताओं और अल्पसंख्यक समुदाय के साधारण लोगों पर झूठे मुकदमे लादे आर्थिक दंड लगाए, कठोर गलत धाराओं में गिरफ्तारियां कीं और जघन्य अपराधों के आरोपी भाजपा नेताओं का गैरकानूनी बचाव किया। इस सरकार ने पहले से ही व्याप्त अपराधियों और राजनीतिकों के नापाक गठजोड़ को बढ़ावा दिया है।

पिछले तीन साल के घटनाक्रमों से साबित हो गया है कि उत्तर प्रदेश की वर्तमान सरकार अपराधियों का गिरोह है। यह शीर्षस्थ गिरोह उत्तर प्रदेश शासन के सिविल प्रशासन और पुलिस बल द्वारा नागरिकों की हत्या के अपने आपराधिक कामों को अंजाम देता रहा है। योगी सरकार ने भारत के संविधान, प्रशासन की नैतिकता, पुलिस की निष्पक्षता- सक्रियता, न्यायिक अभियोजन, न्यायपालिका की स्वतंत्रता, सभ्य समाज के सारे नियमों, परम्पराओं, साम्प्रदायिक सद्भाव, और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को तहस-नहस कर दिया है। हाल की घटना कानपुर में 8 पुलिसकर्मियों की हत्या और मीडिया के एक बड़े समूह की उपस्थिति में उसके मुख्य आरोपी विकास दूबे का फर्जी मुठभेड़ में मारा जाना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

ये घटनाएं 1960 और 70 के दशकों में पश्चिम बंगाल में सिद्धार्थ शंकर रॉय की कांग्रेस सरकार द्वारा युवकों और झारखंड तथा छत्तीसगढ़ की भाजपा सरकारों द्वारा निर्दोष आदिवासियों और दशकों से आतंकवादी नाम देकर कश्मीरी जनता की हत्याओं की याद दिलाती हैं।

उत्तर प्रदेश सरकार का यह रवैया घोर निंदनीय है। इस बर्बर कांड के बाद मुख्यमंत्री को इस्तीफा देना चाहिए। मीडिया में छपी रिपोर्ट के मुताबिक उत्तर प्रदेश में पिछले तीन साल में किए गए 5000 कथित मुठभेड़ों और 119 मौतों का सुप्रीम कोर्ट द्वारा स्वतः संज्ञान में लेकर न्यायिक जांच कराई जानी चाहिए, ताकि भविष्य में इस तरह की हत्याओं पर रोक लग सके।

श्रमिकों की बेबसी का नतीजा है महामारी का बेलगाम फैलाव

भारत में लॉकडाउन 25 मार्च को जब अमल में लाया गया था तब देश में कोरोना के मामलों की संख्या मात्र 667 थी। पर मामलों की संख्या हर तीन दिन में दोगुना हो रही थी। लॉकडाउन का फैसला कोरोना जैसे अति संक्रामक रोग को बड़े पैमाने पर फैलने से रोकने के उद्देश्य से लिया गया था। पर 31 मई को मामलों की संख्या 1 लाख अस्सी हजार के पार हो गई थी। 25 मार्च से 31 मई के दौरान धीरे-धीरे बंदिशों में ढील दी गई।

बंदिशों में फर्क के अनुसार इन दस हफ्तों को चार हिस्सों में बांटा गया है- लॉकडाउन-1, लॉकडाउन-2, लॉकडाउन-3 और लॉकडाउन-4। इसके बाद 1 जून से 30 जून तक अनलॉक-1 के दौरान कोरोना के मामले बढ़ कर 5 लाख 60 हजार से ज्यादा हो गए हैं। 1 जुलाई से अनलॉक-2 लागू है। दरअसल हम अनलॉक से अभी बहुत दूर हैं। संक्रमण के बढ़ने की रफ्तार में इस तरह बढ़ोतरी चिंताजनक है।

लॉकडाउन जैसे आजमाए हुए तरीके की नाकामयाबी की कई वजहें हैं। सबसे अहम वजह यह है कि इस पर पूरी तरह अमल नहीं किया जा सका है। लॉकडाउन का उल्लंघन पहले हफ्ते से ही शुरू हो गया। लाखों की संख्या में प्रवासी श्रमिकों ने सैकड़ों-हजारों मील दूर घर की तरफ वापसी की ठान ली और रेल-बस बंद होने के बाबजूद पैदल ही अपने गंतव्य की तरफ निकल पड़े। इस जन प्रवाह को रोकने की सारी कोशिशें नाकाम रही। न उन्हें मनाया जा सका और न उन्हें रोकने की कोई बंदिश काम आई। वैसे उनकी यह कारवाई सर्वथा विवेक-संगत है।

'मजदूरों को आज भी सरकार, शासन व्यवस्था, इसके बनाए कायदे-कानून और कथित समाजसेवी संस्थाओं से ज्यादा अपने गांव, परिवार और समाज पर भरोसा है। तभी वे सबसे गहरे संकट का अनुभव करने पर जान पर खेलकर गांव की तरफ पलायन कर रहे थे।'

प्रवासी मजदूरों की घर वापसी के प्रति सरकार का रुख परेशान करने वाला है। कई हफ्तों की नाकाम कोशिशों के बाद अंततोगत्वा 4 मई से मजदूरों की घर वापसी के लिए विशेष ट्रेनों की व्यवस्था की गई। यह व्यवस्था तो पहले दिन से ही की जानी चाहिए थी। इस देरी का क्या कारण हो सकता है? शायद सरकार का यह मानना था कि लॉकडाउन में मजदूरों की घर वापसी को जबरन रोका जा सकता है और इस कशमकश में लॉकडाउन का मूल उद्देश्य ही गौण हो गया लगता है।

एक तरफ मजदूरों की घर वापसी की कशमकश चल रही थी, दूसरी तरफ लॉकडाउन के पहले महीने के अंत में टास्क फोर्स के सदस्य लॉकडाउन से 50 दिनों (15 मई तक) में ही कोरोना के संक्रमण की रफ्तार में गिरावट का पूर्वानुमान पेश कर रहे थे। वास्तव में इसका उलटा हुआ है। 15 मई से पहले ही संक्रमण की रफ्तार में बढ़ोतरी शुरू हो गई थी, जो अभी तक (जुलाई के पहले हफ्ते तक) लगातार जारी है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में लॉकडाउन का एक ही मकसद है- परिवार के अलावा सभी से पूरी तरह सामाजिक और शारीरिक दूरी बनाकर कोरोना के संक्रमण पर विराम लगाना। कुछ अन्य देशों (जैसे कि ब्रिटेन, जर्मनी) ने लॉकडाउन को आंशिक तौर पर लागू करके ही अपना मकसद हासिल कर लिया है। इन देशों ने लॉकडाउन से प्रभावित होने वाले निचले आय वर्ग के सभी व्यक्तियों के लिए समुचित आय-समर्थन की व्यवस्था पहले दिन से कर दी थी और इस तरह उन्होंने लॉकडाउन की सफलता का मार्ग प्रशस्त कर दिया था।

भारत में इस तरह की व्यवस्था न होने के परिप्रेक्ष्य में प्रवासी श्रमिकों की घर वापसी का फैसला विवेक-संगत था पर सरकार द्वारा इन्हें जबरदस्ती रोकने की कोशिश करना बिलकुल गैर-वाजिब था। क्या लॉकडाउन का फैसला करते वक्त नीतिकर्ता प्रवासी श्रमिकों के बारे में जमीनी हकीकत से अनजान थे?

आय-समर्थन की नीति को नकारना देश के लिए बहुत मंहगा साबित हो रहा है। कोरोना के संक्रमण की रफ्तार में बढ़ोतरी के कारण देश ने जो कीमत अदा की है आय-समर्थन पर खर्च के मुकाबले स्पष्टतया बहुत ज्यादा रही है। लागत-फायदे के विश्लेषण में प्रवासी मजदूरों सहित सभी प्रभावित मजदूरों, स्व-रोजगार कर्मियों (जैसे कि रिक्शा चालक) के लिए आय-समर्थन की नीति एक बेहतर विकल्प है। यूरोपीय देशों की सफलता का उदाहरण हमारे सामने है।

प्रवासी मजदूरों को इस तरह जबरन रोकने की नाकाम कोशिशों से कोरोना के संक्रमण का फैलाव रोकने की मुहिम कमजोर हुई है। गौरतलब है कि बहुत से प्रवासी श्रमिक अपने प्रवास के दौरान ऐसी आवासीय इकाइयों में रहते हैं, जिनमें सामाजिक और शारीरिक दूरी बनाए रखना सहज नहीं है। इन बस्तियों में संक्रमण का खतरा बहुत ज्यादा रहता है; जबकि ग्रामीण परिवेश में संक्रमण का खतरा बहुत कम है।

कोरोना महामारी को फैलने से रोकने की मुहिम को 25 मार्च को लॉकडाउन के जरिए शुरू किया गया था। देश की गरीब जनता ने इसकी भारी कीमत अदा की है। ब्रिटेन, जर्मनी, इटली, स्पेन आदि देशों में तो पचास दिन के आंशिक लॉकडाउन से ही संक्रमण के फैलाव की रफ्तार में कमी आ गई थी। इन देशों में बेरोजगारों को दिये गये आय-समर्थन से कामयाबी का मार्ग प्रशस्त हो गया था। इस त्रुटि के कारण भारत में सौ दिन के बाद भी फैलाव की रफ्तार कम नहीं हो रही है। इसके अलावा अन्य त्रुटियां भी है, जिनमें टेस्टिंग की कमी एक प्रमुख समस्या है। पर्याप्त संख्या में टेस्टों की व्यवस्था में इस तरह की सुस्ती बहुत चिंताजनक है। सरकारी अस्पतालों की कमी और निजी अस्पतालों के मंहगे पैकेज भी चिंता बढ़ाने वाले हैं।

अनलॉक-2 में उम्मीद है कि नीतिकार पिछली गलतियों को सुधार कर देश को इस महामारी से जल्दी निजात दिलाने का मार्ग प्रशस्त करेंगे।

अनलॉक के लिए व्यापक आय-समर्थन अनिवार्य है

लॉकडाउन शुरू होते ही आम जनता के लिए आय-समर्थन एक अनिवार्यता है और इसको नकारने का खमियाजा देश भुगत रहा है। सौ दिनों के बाद भी कोरोना के संक्रमण के बढ़ने की रफ्तार घट नहीं रही है। इस वक्त एक तरफ तो संक्रमण बढ़ता जा रहा है तो दूसरी तरफ देश का आर्थिक संकट गहराता जा रहा है। इस दोहरे संकट का निवारण उपयुक्त आय-समर्थन नीति में ही निहित है।

कई कारोबार लॉकडाउन के साथ ही बंद हो गए हैं, जैसे कि होटल, पर्यटन आदि। टैक्सी ऑपरेटरों का काम-काज भी ठप पडा है। एयरलाइनें, बस ट्रांसपोर्ट आदि का कारोबार काफी कम रह गया है। कई कारखाने बंद हैं। जो खुले हैं उनमें ज्यादातर आंशिक तौर पर काम कर रहे हैं। कई जगह मजदूर नहीं हैं तो कहीं काम (मांग न होने के कारण) नहीं है। कानपुर की आधी टेनरी बंद हैं। सूरत के टेक्साइल उद्योग में कोरोना के प्रकोप के कारण क्षमता का केवल 10 फीसदी के बराबर उत्पादन हो रहा है। कोरोना संक्रमण के कारण औरंगाबाद में स्कूटर उत्पादन में बाधा आ रही है।

बेरोजगारी से शहरी आबादी का एक अच्छा-खासा हिस्सा प्रभावित है। इनमें सभी स्तरों के वेतनभोगी कामगार हैं। असंगठित क्षेत्र के अकुशल (अनस्किल्ड) श्रमिकों से लेकर एयरलाइन के प्रशिक्षित वेतनभोगी कर्मचारी बेरोजगारी से जूझ रहे हैं। ये लोग उपभोक्ता भी है। इनकी आय में कटौती का मतलब है- उपभोग खर्च में कटौती। किराना आदि के अलावा अन्य दुकानदारों की बिक्री में कमी आ गई हैं। उन्होंने अपने कर्मचारियों की छंटनी शुरू कर दी है। बहुत से बेरोजगार और छोटे कारोबारी घरों/दुकानों का किराया, बच्चों के स्कूल की फीस आदि नहीं दे पा रहे हैं। कई स्व-वित्तपोषित (सेल्फ-फाइनेंस) स्कूल अध्यापकों को वेतन नहीं दे पा रहे हैं।

देश में महामंदी के हालात हैं, जिसका अहसास सभी को है। 12 मई को वित्तमंत्री ने लगभग 20 लाख करोड़ रुपये के आर्थिक पैकेज की घोषणा की थी, जिसमें 17 लाख करोड़ बैंक क्रेडिट द्वारा और 2.9 लाख करोड़ सरकारी बजट द्वारा आवंटित था। इस पैकेज को किस तरह कार्यान्वित किया गया, इसकी जानकारी उपलब्ध नहीं कराई गई है। जो भी बैंक क्रेडिट इन दिनों लिया गया है, उसका उपयोग वर्किंग पूंजीगत जरूरतों के लिए किया गया है। इतना स्पष्ट है कि नए कारोबार शुरू करने के लिए या मौजूदा कारोबार का विस्तार करने के लिए बैंक क्रेडिट की मांग इस वक्त ज्यादा नहीं है। इस पैकेज से महामंदी का मुकाबला नहीं किया जा सकता। क्योंकि मौजूदा हालात में बैंक क्रेडिट से उत्पादन का विस्तार नहीं हो पा रहा है।

संकट का स्वरूप समझ कर ही इसका मुकाबला किया जा सकता है। यह संकट इस तरह हैः लॉकडाउन और सामाजिक एवं शारीरिक दूरी से कारोबार में रुकावट आई है। होटल, रेस्तरां, पर्यटन, सार्वजनिक परिवहन सेवाओं जैसे उद्योग सबसे ज्यादा प्रभावित हुए हैं। सेवा और मैन्युफैक्चरिंग क्षेत्रों में भी उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। बेरोजगारी से कइयों की आमदनी बिल्कुल बंद हो गई है। स्व-रोजगार कर्मियों और कारोबारियों की आमदनी घट गई है। उपभोग खर्च में गिरावट से एक बार फिर उत्पादन और रोजगार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है और इस तरह मंदी गहराती जा रही है। इसके लिए पर्याप्त पैमाने पर सरकार का हस्तक्षेप जरूरी है।

12 मई के पैकेज में बजटीय आवंटन के 2.9 लाख करोड़ के पैकेज के 1.2 लाख पहले से घोषित स्कीमों के लिए थे। इस तरह 1.7 लाख करोड़ ही मौजूदा संकट निवारण के लिए थे। यह धनराशि राष्ट्रीय आय का मात्र एक फीसदी है, जो जरूरत के मुकाबले बहुत कम है। यह कम से कम राष्ट्रीय आय का 5 फीसदी होना चाहिए थी। यह आवंटन उस वक्त किया गया था, जब कोरोना का प्रकोप कम था और यह राशि तीन-चार माह की जरूरतों के लिए थी। इस वक्त की स्थिति के आकलन के अनुसार इस मामले के कहीं ज्यादा खिंचने की आंशका है। वर्तमान स्थिति में यह धनराशि राष्ट्रीय आय के 10 फीसदी होनी चाहिए और इसके आवंटन में देरी नुकसानदेह साबित हो रही है।

आय-समर्थन नीति का एक उद्देश्य सभी जरूरतमंदों के गुजर-बसर के लिए एक न्यूनतम स्तर के अनुसार आय उपलब्ध कराना है। इस वक्त उन्हें अनाज और दाल वितरित किए जाने की व्यवस्था है पर सभी लक्षित परिवार इससे लाभान्वित नहीं हो रहे हैं। एक तरफ वितरित राशि (जिंस में या नकदी में) कम से कम दोगुना होनी चाहिए, दूसरी तरफ वितरण व्यवस्था को चुस्त करके सभी लक्षित परिवारों तक आवंटित राशि उपलब्ध कराना अति आवश्यक है। आय-समर्थन नीति का दूसरा उद्देश्य इस संकट काल में निम्न मध्यम वर्ग की आवश्यकताएं- जैसे कि बच्चों की स्कूल फीस, मकान का किराया आदि की एक निर्धारित सीमा तक आपूर्ति में मदद करना है। इसके अलावा इन परिवारों को उनकी तीन माह की आमदनी के बराबर बैंक के साथ ओवरड्राफ्ट की व्यवस्था कराई जानी चाहिए।

मौजूदा संकट को गहराने से रोकने के लिए और अर्थव्यवस्था को फिर से पटरी पर लाने के लिए व्यापक स्तर पर आय-समर्थन और कारोबारियों के लिए पर्याप्त बैंक क्रेडिट के पैकेज की फौरन व्यवस्था अनिवार्य है। ■

तिब्बत मुक्ति में भारत की नई भूमिका की जरूरत

आनंद कुमार

लद्दाख की गलवान घाटी में सैनिक झड़प में 20 भारतीय जवानों की मौत से एक बार फिर भारत की 3500 किलोमीटर लंबी हिमालयी सरहद की सुरक्षा का प्रश्न देश की प्राथमिक चिंता बन गया है। हिमालय क्षेत्र कितना बड़ा है? इसकी सांस्कृतिक-सामाजिक बनावट कैसी है? इसका आर्थिक पक्ष कैसा है? इसकी सुरक्षा की क्या जरूरतें हैं? हिमालय क्षेत्र में नेपाल से लेकर चीन की दावेदारियों का क्या कारण है? हमारे राष्ट्रनायकों ने 1954 के पंचशील समझौते से लेकर 2020 में लद्दाख में सेना कमांडरों की लंबी बातचीत के बीच का सारा समय चीन को लुभाने में लगाया फिर भी हम शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के प्रति क्यों आशावादी नहीं हैं। भारत दुनिया को 'युद्ध से बुद्ध की ओर' ले चलने के लिए प्रयास करना चाहता है, लेकिन हम अपने छोटे-बड़े पड़ोसियों से सीमा की समस्याएं नहीं सुलझा पा रहे हैं? क्यों? नीति, नेता और नीयत में से कहां कमी है?

असल में आज़ादी के बाद से आज तक हमारे देश को एक समग्र हिमालय नीति को अपनाने वाली सरकार नहीं मिली है। इसकी शिकायत हिमालय क्षेत्र के हर प्रदेश के लोग करते आए हैं। समाजवादियों ने तिब्बत पर चीन के कब्ज़े के बाद से 'हिमालय बचाओ' की गुहार लगाई है। नब्बे के दशक से पर्यावरण के सरोकारों से जुड़े लोगों ने एक अलग स्तर पर हिमालय बचाओ की जरूरत समझाई है।

5,95,000 वर्ग किलोमीटर के विस्तार वाला हिमालय मोटे तौर पर 1500 हिमनदों का क्षेत्र है। यह सिन्धु, गंगा, जमुना, कोसी, कर्णाली, त्सान्पो (ब्रह्मपुत्र), मेकांग, यांग्त्से जैसी बहुत महत्वपूर्ण नदियों का उद्गम है। यह नदियां मिलकर हिन्दुकुश-हिमालय नदी व्यवस्था का निर्माण करती हैं। 100 से ज्यादा पर्वतों से बने हिमालय के चार प्राकृतिक अंग हैं- परा–हिमालय, महान हिमालय, मध्य हिमालय और शिवालिक। हिमालय के अलग-अलग हिस्सों से कई देशों का सीधा सरोकार है- भारत (इसमें पाक अधिकृत कश्मीर के गिलगित बाल्टीस्तान के इलाके भी हैं।), नेपाल, भूटान, चीन (तिब्बत), पाकिस्तान, अफगानिस्तान और म्यांमार। इसमें 5 करोड़ 27 लाख से ज्यादा स्त्री-पुरुषों का निवास है। लेकिन हिमालय से जुडी जल-व्यवस्था और पर्यावरण से एक अरब से ज्यादा लोगों की सीधी निर्भरता है।

दो विश्वयुद्धों के बावजूद तिब्बत की स्वाधीनता के काल में हिमालय शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का क्षेत्र था। 1947 में भारत से ब्रिटिश राज के समाप्त होने के बाद हिमालय क्षेत्र में लोकतंत्र के विस्तार की आशा का संचार हुआ था। क्योंकि भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में अफगानिस्तान, नेपाल, भूटान, तिब्बत और म्यांमार की सक्रिय सहानुभूति थी। लेकिन चीन में 1949 में कम्युनिस्ट क्रांति के बाद नए शासकों द्वारा हान, मांचू, मंगोल, उइगुर और तिब्बती समुदायों को एकजुट करके एक नए राष्ट्र की स्थापना का अभियान चलाया गया। अप्रत्याशित रूप से तिब्बत की स्वाधीनता समाप्त कर दी गई। 1912 से स्वतंत्र अस्तित्व वाले इस बौद्ध राष्ट्र को विखंडित किया गया और 'तिब्बत स्वायत्त क्षेत्र' के रूप में चीन में मिलाया गया। पूर्वी तुर्किस्तान को कब्जे में लिया गया। इस मुस्लिम बहुल राष्ट्र को 'शिनजियांग स्वायत्त क्षेत्र' नाम दिया गया, जिसका चीनी भाषा में अर्थ 'नया प्रदेश' है! दक्षिण मंगोलिया पर भी कम्युनिस्ट चीन का नियंत्रण हो गया। वस्तुतः मौजूदा 'पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ चाइना' के क्षेत्रफल का दो-तिहाई हिस्सा इन ऐतिहासिक समुदायों को अपने कब्जे में लेने से हासिल हुआ है। इसमें जम्मू-कश्मीर के 'अक्साई चिन' का भी बड़ा हिस्सा और पकिस्तान अधिकृत कश्मीर का 5,000 वर्ग किलोमीटर जमीन भी शामिल है।

कम्युनिस्ट चीन ने भारत से 1954 में

आठ बरस के लिए 'पंचशील' समझौते पर दस्तखत किया लेकिन तिब्बत समेत संपूर्ण हिमालय क्षेत्र में अपने पांव पसारने लगा। नेहरू सरकार भी तिब्बत, दक्षिणी मंगोलिया और पूर्वी तुर्किस्तान की दुर्दशा की अनदेखी करते हुए कम्युनिस्ट चीन को 'वास्तविक चीन' मानने के अभियान की समर्थक बनी रही। ताइवान की जगह कम्युनिस्ट चीन को 'गुट-निरपेक्ष सम्मेलन' से लेकर संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् की स्थायी सदस्यता के लिए पैरवी करती रही। चीन ने इसके बदले में पहले अक्साई चिन में कब्जे करके सड़कों का जाल बिछाया। फिर लद्दाख से लेकर 'नेफा' (वर्तमान में अरुणाचल प्रदेश) तक हिमालय क्षेत्र में सैनिक आक्रमण का शिकार बनाया। आज भी भारत की कुल एक लाख वर्ग किलोमीटर जमीन चीन के कब्जे में है। जबकि भूटान ने आज तक चीन की कम्युनिस्ट सरकार को मान्यता नहीं प्रदान की है। ताइवान, दक्षिण मंगोलिया और पूर्वी तुर्किस्तान के कई लाख स्त्री-पुरुष 'एक चीन' के असत्य प्रचार के विरुद्ध अपने-अपने तरीकों से जुटे हुए हैं। 1959 में तिब्बत से निकलकर भारत में शरणागत होने के लिए मजबूर होने के बाद दलाई लामा समेत एक लाख से अधिक तिब्बती भारत समेत दुनिया के विभिन्न देशों में छह दशकों से प्रवासी बनकर मुक्ति-साधना में जुटे हुए हैं।

भारत के लिए तिब्बत प्रश्न अहम

भारत के लिए 'तिब्बत प्रश्न' का बाकी दुनिया से ज्यादा महत्व है। लेकिन हम इसके बारे में 1949 से ही दुविधाग्रस्त हैं। क्या इससे हमारा, तिब्बत और चीन का और बाकी एशिया का कोई हित हुआ है या यह अहितकारी नीति सिद्ध हुई है? शास्त्रों के अनुसार 'संशयात्मा विनश्यति'। फिर हम क्यों संशय में फंसे हुए हैं? इस आलेख में तिब्बत मुक्ति-साधना, हिमालय की दुर्दशा, और चीन-भारत संबंधों की एक पड़ताल की गई है। इसमें शुरू में संदर्भ का संक्षिप्त प्रस्तुतीकरण करते हुए क्रमशः तिब्बतियों के पुरुषार्थ, चीन की गलतफहमी, भारत के अनुभव, चीन के विस्तारवाद का रहस्य, और तिब्बत की मुक्ति-साधना की बढ़ती गति की चर्चा के जरिए भारतीय नीति में स्पष्टता की आवश्यकता पर बल दिया गया है। शुभस्य शीघ्रम्।

भारत-तिब्बत-चीन त्रिकोण की कुछ बातें

यह सच है कि भारत के साम्राज्यवादी विरोधी स्वतंत्रता आंदोलन ने बीसवीं सदी में दुनिया के अनेकों पराधीन देशों के लिए प्रेरणा-स्रोत का काम किया। लेकिन यह भी सही है कि भारत की स्वतंत्रता के आरंभिक

दौर में ही 1949-59 के बीच पड़ोसी देश तिब्बत की स्वाधीनता का जब चीनी कम्युनिस्ट शासन द्वारा हनन किया गया तो हम इस 'शिशु-हत्या' की अनदेखी करने के अपराधी बने। क्यों?[1] निश्चय ही स्वाधीनोत्तर भारतीय नेतृत्व चीनी कम्युनिस्ट क्रांति से अभिभूत था। शायद चीन-भारत की एकता के जरिए यूरोप-अमेरिका के वर्चस्व से मुक्त नई दुनिया का सपना था। इसलिए प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू और विदेशमंत्री कृष्ण मेनन और भारत के अधिकांश कम्युनिस्ट 'हिंदी-चीनी भाई भाई' का माहौल बनाने की कोशिश में लगे थे।[2] इसके लिए हमने चीन के साथ 1954 में पंचशील समझौते पर दस्तखत किया। पंचशील समझौते की अवधि को चीन की जिद पर चीन में भारत के राजदूत त्रिलोकीनाथ कौल की आपत्ति के बावजूद कुल आठ साल ही रखा गया। जबकि अधिकांश अंतरराष्ट्रीय संधियां 10 साल या 20 साल की अवधि के लिए हुआ करती हैं। फिर पंचशील समझौते की सफलता के लिए 1914 में ब्रिटेन, चीन और तिब्बत के बीच हुई लंबी वार्ता और ब्रिटेन-तिब्बत के बीच हस्ताक्षरित शिमला समझौते के जरिए प्राप्त कई सुविधाओं को भारत ने तिब्बत में चीन के हित संवर्धन के लिए छोड़ भी दिया। इसके साथ ही भारत ने गुटनिरपेक्ष देशों में कम्युनिस्ट चीन के प्रति अनुकूलता बनाई। इससे आगे जाकर कम्युनिस्ट चीन को संयुक्त राष्ट्र के सुरक्षा परिषद् की पांच सदस्यीय स्थायी समिति में शामिल करने का अभियान चलाया।[3]

इसके दो बरस बाद ही 1956 में भगवान बुद्ध की 2500वीं जयंती के उत्सव में दलाई लामा भारत के अतिथि के रूप में आए और उन्होंने तिब्बत की बिगड़ती दशा की जानकारी देते हुए भारत से शरण और सहायता मांगी थी। लेकिन हमारी सरकार ने उन्हें धीरज रखने की सलाह दी और वापस भेज दिया। तिब्बत पर चीन का साम्राज्यवादी कब्ज़ा बेलगाम हो गया। इस पाप में ब्रिटेन, अमेरिका, रूस, फ्रांस, जापान समेत समूचे संयुक्त राष्ट्र की रहस्यमय चुप्पी का भी योगदान रहा। भारत ने 1959 में दलाई लामा और अन्य हजारों तिब्बती स्त्री-पुरुषों को शरण देकर पुनर्वास के जरिए प्रायश्चित जैसा भी शुरू किया। फिर 1962 में अपनी धरती का बहुत बड़ा हिस्सा और अपने हजारों सैनिक भी गंवाए। लेकिन तिब्बत का स्वराज तो चीनी राज में बदल चुका था और भारत दुनिया की निगाह में एक मानमर्दित देश भर रह गया था। क्या दलाई लामा का

1 डॉ. राममनोहर लोहिया ने तिब्बत पर चीनी कब्जे को 1950 में स्वतंत्र भारत की एक समग्र हिमालय नीति की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए 'शिशु हत्या' बताया था। देखेंः आनंद कुमार व मनोज कुमार (संपादक) (2013) 'हिमालय नीति', तिब्बत, हिमालय, भारत, चीन और डॉ. राममनोहर लोहिया (नई दिल्ली, अनामिका प्रकाशन) पृष्ठ 29-35

2 'चीनी–हिंदी भाई भाई' का नारा देनेवाले प्रधानमंत्री नेहरू तथा विदेशमंत्री कृष्ण मेनन की चीन के प्रति अनुकूलता सर्वविदित तथ्य है। इसके दूरगामी परिणामों का मूल्यांकन आजतक जारी है। भारत के पूर्व विदेश सचिवों ने इस बारे में बार–बार उल्लेख किया है। देखेंः श्याम सरण (2017) 'इण्डिया, चाइना एंड द बार्डर डिस्प्यूट', हाउ इण्डिया सीज द वर्ल्ड (नई दिल्ली, जगरनाट)।

3 त्रिलोकीनाथ कौल भारतीय विदेश मंत्रालय के वरिष्टतम अफसरों में से रहे हैं। इन्होंने नेहरू और इंदिरा गांधी दोनों के प्रधानमंत्रित्व काल में विदेश सेवा प्रतिष्ठान में अत्यंत महत्वपूर्ण पदों पर काम किया। इनकी दो पुस्तकें इस प्रसंग में अत्यंत महत्वपूर्ण हैंः डिप्लोमेसी इन पीस एंड वार (नई दिल्ली, विकास, 1979) तथा ए डिप्लोमेट्स डायरी, 1947-99ः चाइना, इण्डिया एंड यू.एस.ए. : द तेंतालिज़िंग ट्रायंगल (नई दिल्ली, मैकमिलन, 2000)

यह निष्कर्ष सही है कि किन्हीं कारणों से आज़ाद भारत का विदेश नीति प्रतिष्ठान चीन के प्रति जरूरत से ज्यादा संवेदनशील और तिब्बत के प्रति उदासीन रहता आया है? जबकि तिब्बत के प्रति ज्यादा सजगता की जरूरत रही है, क्योंकि यह देश भारत और चीन के बीच आदिकाल से शांति क्षेत्र रहता आया था (जिसे अंग्रेज़ी में 'बफ़र स्टेट' कहते हैं)। यह तो साधारण समझदारी की बात होनी चाहिए थी कि तिब्बत की आज़ादी से ही भारत और चीन के बीच मैत्री और संवाद रहेगा।

दूसरी तरफ चीन ने तिब्बत पर कब्जे के लिए कम्युनिस्ट क्रांति के तुरंत बाद 1950 में एक 17-सूत्रीय समझौता लादा। इसके बाद हिमालय क्षेत्र में सड़कों का जाल बिछाया। सैनिक अड्डे बनाए। दलाई लामा को 1959 में देश छोड़ने के लिए मजबूर किया। इससे ल्हासा में जन-विद्रोह हो गया। चीनी सेना ने निर्ममता से दमन किया और दलाई लामा के अपने कई हजार अनुयायियों के साथ भारत में शरणार्थी बनने पर पंचेन लामा को तिब्बत का कागजी शासक बनाया। इससे पैदा परस्पर आक्रोश और अविश्वास पिछले 60 बरसों में लगातार बढ़ रहा है। उदाहरण के लिए, जब अपने अंतिम बरसों में पंचेन लामा का मोहभंग हुआ तो उनके साथ भी चीनी शासकों ने क्रूरताएं करने में संकोच नहीं किया। पंचेन लामा के निधन के बाद तिब्बती लामा समुदाय ने जिस बच्चे को पंचेन लामा का अवतार माना, उस बच्चे को माता-पिता और शिक्षक लामाओं समेत कैद करके एक नए पंचेन लामा की घोषणा की गई। इससे पूरी दुनिया में 'पंचेन लामा को रिहा करो' का अभियान चला। तिब्बती लोगों ने इस एकमात्र 'शिशु राजनीतिक बंदी' की रिहाई के लिए प्रभावशाली जनमत बनाया। लेकिन चीन के रुख में कोई परिवर्तन नहीं आया है। इससे सतर्क होकर वर्तमान दलाई लामा ने यह भविष्यवाणी कर दी है कि उनका पुनर्जन्म चीन के कब्जे के तिब्बत क्षेत्र में नहीं होगा!

शायद चीन-भारत की एकता के जरिए यूरोप-अमेरिका के वर्चस्व से मुक्त नई दुनिया का सपना था। इसलिए नेहरू समेत भारत के अधिकांश कम्युनिस्ट 'हिंदी-चीनी भाई भाई' का माहौल बनाने की कोशिश में लगे थे।

तिब्बत की पीड़ा के मुख्य पहलू[4]

तिब्बत की पीड़ा के कई दुःखद आयाम हैं। इनमें जनसंख्या का बढ़ता असंतुलन, संस्कृति और धर्म का विनाश, शिक्षागत अभाव, पर्यावरण में विकृतियां और सेना का बढ़ता आकार हर तरह से चिंताजनक हैं। 1951 में तिब्बत की जनसंख्या में तिब्बती 96 प्रतिशत थे। गैर-तिब्बती 4 प्रतिशत थे। 2000 की जनगणना के अनुसार तिब्बतियों की जनसंख्या कुल 54 लाख थी और गैर-तिब्बतियों की जनसंख्या बढ़कर 78 लाख हो चुकी थी। 21वीं शताब्दी के दो दशकों में भी तिब्बत में गैर-तिब्बती आबादी को बढ़ावा देने की नीति जारी रही है और यह असंतुलन और तिब्बती विरोधी हो चुका है।

चीन सरकार ने 1959 में तिब्बत पर सैनिक कब्जा पूरा करने के बाद संस्कृति और धार्मिक आस्था-व्यवस्था को नष्ट करने के लिए योजनाबद्ध तरीके से काम किया है। 2005 के एक प्रतिवेदन के अनुसार तिब्बत स्वायत्तशासी क्षेत्र में 45 प्रतिशत निरक्षरता थी। इस क्षेत्र के बाहर के कई क्षेत्रों में निरक्षरता का प्रतिशत 7 प्रतिशत से भी कम था। तिब्बती भाषा सिखाने वाले 80 प्रतिशत विद्यालय 2008 के बाद लगातार बंद किए गए हैं। 2010 में शिक्षा की एक 10 वर्षीय योजना भी तैयार की गई। इसी के समान्तर, तिब्बत स्वायत्तशासी क्षेत्र के सभी विश्वविद्यालयों में पाठ्य-पुस्तकों को बदल दिया गया और विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में शिक्षा-माध्यम के रूप में केवल चीनी भाषा को ही इस्तेमाल किया जाने लगा है।

धर्म-आधार को कमजोर करने के लिए दो शर्मनाक काम किए गए है। सर्वप्रथम लगभग 6000 मठों और विहारों को नष्ट कर दिया गया। इसी के समांतर बचे हुए सभी विहारों और मठों में भिक्षु व भिक्षुणियों की संख्या सीमित कर दी गई है। इसके परिणामस्वरूप 1994 के बाद सभी विहारों में भिक्षुओं और भिक्षुणियों की संख्या में तेजी से कमी आई है।

चीनी सेना-शासन द्वारा तिब्बतियों के धर्म-आधार और भाषा के साथ ही जीवनशैली को बदला जा रहा है। कम से कम 35 प्रतिशत तिब्बतियों की जीवन शैली पर सीधा प्रहार हो चुका है, जिनका जीवन पशुपालन पर आश्रित था। जो लोग पालतू पशुओं के साथ भ्रमणशील तरीके से जीवन-यापन करते थे उनका निवास क्षेत्र और स्थान-विशेष में सीमित कर दिया गया है। आजीविका के लिए पशुओं की संख्या भी निश्चित कर दी गई है। कृषि क्षेत्र में रसायनयुक्त खेती और फसलों में एकरूपता की नीति लागू की गई है। गांवों के प्रशासन में चीनी भाषा का वर्चस्व बनाया जा चुका है।

तिब्बत का पर्यावरण-विनाश भी चीनी कब्जे के परिणामस्वरूप हुआ है। तिब्बत एशियाई देशों में बहने वाली 10 महत्वपूर्ण नदियों का उद्गम-स्थल है। इनसे हमारी धरती के तीन अरब से ज्यादा स्त्री-पुरुषों के पानी की जरूरत पूरी होती है। यह नदियां भारत, पकिस्तान, म्यांमार, बांग्लादेश और चीन को संपन्न बनाती हैं। पर्यावरण वैज्ञानिकों के 2007 के एक अध्ययन के अनुसार, इनमें से चार नदियां जल-बहाव में चीनी अवरोधों के कारण सूख कर लुप्त होने वाली हैं। बाकी छह नदियां या तो प्रदूषित हैं या जल-बहाव का संकट झेल रही हैं। 1950 में इन 10 नदियों पर कुल 22 बांध हुआ करते थे। चीनी दस्तावेजों के अनुसार सन् 2000 तक इन पर 22,000 छोटे-बड़े बांध या विद्युत उत्पादन की परियोजनाएं स्थापित की जा चुकी थीं। तिब्बत में हिमनदों (ग्लेशियर) का इतना बड़ा भंडार रहता

4 सामदोंग रिनपोछे (2015) तिब्बत की मुक्ति-साधना (नई दिल्ली, अनुज्ञा बुक्स, 2015) पृष्ठ 10-15

आया है कि इसे धरती का तीसरा ध्रुव माना जाता था। यहां 46 हजार हिमनद चिह्नित थे, जो 1.5 लाख वर्ग किलोमीटर में फैले थे। इनमें से लगभग 9,000 पिघलकर तालाब और झीलों का रूप ले चुके हैं। इनमें से 200 से ज्यादा झीलों ने खतरनाक रूप ले लिया है और इनसे भीषण विनाश की संभावना बढ़ती जा रही है। इसकी चपेट में तिब्बत के निकटस्थ चीनी, पाकिस्तानी, भारतीय और बांग्लादेशी प्रदेश आ सकते हैं। तापमान 2030 तक 22 डिग्री सेंटीग्रेड से बढ़कर 26 डिग्री सेंटीग्रेड होने का खतरा है। ऐसी स्थिति में लगभग 60 प्रतिशत ग्लेशियर समाप्त हो सकते हैं। घास के अधिकांश मैदानों के रेगिस्तान में बदलने की आशंका बढ़ रही है।

तिब्बत अपने सघन वन क्षेत्रों के कारण विश्व-प्रसिद्ध रहा है। लेकिन 50 प्रतिशत जंगलों को 1998 तक काटा जा चुका था। प्राकृतिक संसाधनों की दृष्टि से तिब्बत में 126 प्रकार के खनिज पदार्थों का भंडार रहा है। 1907 के एक भूगर्भीय सर्वेक्षण के अनुसार तिब्बत में 4 करोड़ टन तांबा और 4 करोड़ टन जस्ता का अनुमान था। चीन ने पिछले 60 साल के कब्जे में समूची भू-गर्भ संपदा का बेहिसाब खनन किया है। तिब्बत के कुछ क्षेत्रों को परमाणु कचरे से पाट दिया गया है।

चीन ने तिब्बत का सघन सैन्यीकरण कर दिया है। तिब्बत क्षेत्र में लगभग छह लाख सैन्यबल तैनात है। अर्ध-सैनिक बलों की तादाद घटती-बढ़ती रहती है। बीजिंग से भारत के सीमावर्ती क्षेत्रों- नेपाल और पाकिस्तान तक रेलवे लाइनें बिछाई जा चुकी हैं। सड़क मार्ग की दृष्टि से पाकिस्तान, म्यांमार और नेपाल को जोड़ा जा चुका है। तिब्बती क्षेत्र में 16 हवाई अड्डे काम कर रहे हैं, जिनका सैनिक इस्तेमाल किया जा सकता है। ऐसे परिवेश में नागरिक आज़ादी और मानव अधिकारों की कोई गुंजाइश नहीं बची है। जेलों में बंद लोगों के बारे में-पंचेन लामा से लेकर साधारण तिब्बती भिक्षुओं, भिक्षुणियों और नागरिकों के बारे में कोई प्रामाणिक सूचना नहीं है। फिर भी 2012 की एक जानकारी के अनुसार, कम से कम 1392 राजनीतिक बंदी तिब्बत की जेलों में बंद रखे जा रहे थे।

तिब्बतियों का प्रशंसनीय पुरुषार्थ

चीन ने तिब्बत को उपनिवेश बनाकर अपने सैनिक तंत्र के जरिए तिब्बती लोगों को प्रताड़ित करने में तो सफलता पाई है लेकिन उनकी स्वराज के लिए प्रतिबद्धता कमजोर नहीं कर पाए हैं। इसीलिए इक्कीसवीं शताब्दी में भी तिब्बत के प्रवासियों द्वारा हर साल संयुक्त राष्ट्रसंघ मुख्यालय से लेकर दुनिया के प्रमुख देशों की राजधानियों में 10 मार्च को तिब्बत की आज़ादी की मांग को लेकर शांतिपूर्ण प्रदर्शन होते हैं। दलाई लामा की ओर से तिब्बत दिवस के रूप में होने वाले इन कार्यक्रमों का संदर्भ समझाते हुए विश्व की प्रमुख भाषाओं में एक वार्षिक संदेश जारी किया जाता है।[5]

तिब्बत मुक्ति साधना के समर्थकों की विभिन्न देशों में समितियां बढ़ती जा रही हैं। तिब्बत समर्थक विद्यार्थी मंच भी वैश्विक आकार ले चुका है। तिब्बत समर्थक विश्व संसदीय मंच कई देशों के सांसदों की मदद से बन गया है। भारत के सांसदों में भी 'तिब्बत समर्थक संसदीय मंच' के रूप में इसकी परंपरा बनी हुई है। यह भी महत्वपूर्ण है कि सिवाय बढ़ते अंतरराष्ट्रीय जन समर्थन के, किसी अन्य तात्कालिक सफलता के न मिलने के बावजूद तिब्बत मुक्ति साधना लगातार ज्यादा साहस और त्याग की ओर मुड़ती जा रही है। अब तक प्रतिरोध के प्रदर्शन के लिए शांतिपूर्ण जुलुस, धरना और लंबे क्रमिक उपवासों का आयोजन होता रहा है। इसकी प्रतिक्रिया में चीनी शासकों द्वारा अधिक गिरफ्तारियां, सजा, लोगों को गायब करा देना और यातनाओं का सिलसिला चलाया गया है।

लेकिन इधर के वर्षों में, 2009 और 2015 के बीच तिब्बती भिक्षु और भिक्षुणियों द्वारा 'तिब्बत की मुक्ति' और 'दलाई लामा की तिब्बत वापसी' के लिए सर्वोच्च बलिदान के रूप में तिब्बत के विभिन्न क्षेत्रों में आत्मदाह की 156 घटनाएं हुईं हैं। इस प्रसंग में संयुक्त राष्ट्र के मानव अधिकार उच्च आयुक्त तक ने चीन को सचेत किया है कि तिब्बत के लोगों द्वारा किए जा रहे इस प्रकार के अभूतपूर्व और असाधारण बलिदान के कारणों से मुंह न चुराए। यह सुझाव दिया गया है कि संयुक्त राष्ट्र के विभिन्न पर्यवेक्षकों द्वारा अब तक 12 बार दी जा चुकी संस्तुतियों के प्रकाश में निष्पक्ष पर्यवेक्षकों द्वारा कम से कम तिब्बत की यात्रा करने और जमीनी हकीकत के अध्ययन की अनुमति दे।[6] लेकिन चीन का दमन जारी है। क्या यह अद्भुत अहिंसक पराक्रम और अविश्वसनीय सर्वोच्च बलिदान व्यर्थ जाएगा? कम से कम इसके बारे में उपनिवेशवाद के विरुद्ध पूरे विश्व में सरोकार और समर्थन के लिए प्रसिद्ध भारत की चुप्पी चिंताजनक है।

भारत ने 1959 में दलाई लामा और अन्य हजारों तिब्बती स्त्री-पुरुषों को शरण देकर पुनर्वास के जरिए प्रायश्चित जैसा भी शुरू किया। फिर 1962 में अपनी धरती का बहुत बड़ा हिस्सा और अपने हजारों सैनिक भी गंवाए।

वियतनाम युद्ध के दौरान दक्षिण वियतनाम में 60 के दशक में युद्धविरोध के समर्थक भिक्षुओं द्वारा आत्मदाह की कुछ घटनाएं जरूर हुई थीं और उससे विश्वभर में वियतनाम युद्ध को रोकने के लिए अमेरिका पर दबाव बना था। लेकिन तिब्बत की मुक्ति साधना के लिए इतनी बड़ी संख्या में आत्मदाह तो अभूतपूर्व है। यह तिब्बती समाज की गहरी पीड़ा को प्रदर्शित करता है। इसे 'चीन का आंतरिक मामला' कहकर टालना नामुमकिन हो गया है। चीनी क्रूरता

5 इस वार्षिक संदेश के जरिए दलाई लामा द्वारा तिब्बत के दुःख की पृष्ठभूमि और ताज़ा स्थिति दोनों को जोड़ते हुए अगले कदम की रूपरेखा दी जाती है।
6 'करेंट ह्यूमन राइट्स सिचुएशन इन तिब्बट' (यू.एन., ई.यू. एंड ह्यूमन राइट्स डेस्क, सेंट्रल तिब्बतन एडमिनिस्ट्रेशन, धर्मशाला) जुलाई, 2015

की ऐसी चरम अहिंसक प्रतिक्रिया को दुनिया के सामने रखकर तिब्बती बौद्ध साधकों ने सबको चौंका दिया है। चीनी शासकों ने अपनी असफलता को अस्वीकारते हुए इन आत्मदाहों को 'चीन को विखंडित करने की साजिश में जुटे दलाई लामा' का कुचक्र घोषित करके अपनी कमियों पर परदा डालने की शर्मनाक कोशिश जरूर की। लेकिन इसने आग में घी का काम किया और एकदम से कई लामाओं और भिक्षुणियों ने फिर आत्मदाह किया। इससे विचलित होकर स्वयं दलाई लामा को सामने आना पड़ा और आत्मदाह से विरत करने की मार्मिक अपील करनी पड़ी। इससे आत्मदाह तो जरूर रुक गए हैं, लेकिन तिब्बत मुक्ति साधना तिब्बत के अंदर और बाहर सघनता की ओर बढ़ चुकी है। क्योंकि प्रवासी तिब्बतियों द्वारा 2018 में एक विश्वस्तरीय समागम के जरिए तिब्बत के पक्ष को दुनिया के सामने बेहतर ढंग से रखने के लिए 'पांच बरस और पचास बरस' की एक कार्ययोजना घोषित की जा चुकी है। यह 1. तत्काल, और 2. तीन पीढ़ियों के कार्यकाल- दोनों ही स्तरों पर ज्यादा व्यवस्थित सक्रियता की योजना है और इस पर दुनिया को ध्यान देना चाहिए।[7]

विस्तारवादी चीन की गलतफहमी

चीनी शासक हर साम्राज्यवादी देश के शासकों की तरह, 1959 के बाद से ही इस गलतफहमी में रहे हैं कि दलाई लामा को निर्वासन में भेजकर उन्होंने तिब्बत पर अपने कब्जे को टिकाऊ बनाया है और तिब्बती लोगों का आंदोलन समय के साथ हाशिए पर चला जाएगा। तिब्बत में चीनी आबादी की बाढ़ लाकर चौतरफा चीनीकरण का बोलबाला होने से, विशेषकर शिक्षा में तिब्बती की जगह चीनी की अनिवार्यता और तिब्बतियों की चीनियों से शादी को प्रोत्साहित करके एक वर्णसंकर समुदाय बन जाएगा। जिन तिब्बती युवक-युवतियों ने दलाई लामा को देखा ही नहीं और बौद्ध जीवन शैली की बजाय कम्युनिस्ट शिक्षा और अनुशासन में ही सांस ली है उनके लिए तिब्बत की आज़ादी का क्या अर्थ रहेगा? फिर 85 बरस के हो चुके दलाई लामा भी क्या 100 बरस से ज्यादा जिएंगे? जब उनकी आयु पूरी हो जाएगी तो चीन सरकार अपनी मनमानी करके, पंचेन लामा की तरह, दलाई लामा के उत्तराधिकारी का चयन करेगी और उसके बाद तो तिब्बत की आज़ादी की लड़ाई और तिब्बत-मुक्ति-साधना का नामों-निशां भी नहीं बचेगा।

क्या यह सही अनुमान है? क्योंकि दलाई लामा के उत्तराधिकारी के चयन की सदियों से चली आ रही पारंपरिक व्यवस्था को धर्महीन चीनी सत्ता प्रतिष्ठान द्वारा लांघना तिब्बत के लोगों के लिए स्वीकारना असंभव होगा। क्योंकि परंपरा के अनुसार, हर दलाई लामा अपने पुनर्जन्म के बारे में स्वयं निर्देश छोड़ जाते हैं। इसी के समांतर, तिब्बती अस्मिता के व्याकरण में दलाई लामा का केंद्रीय महत्त्व होते हुए भी बौद्ध धर्म, तिब्बती भूगोल, तिब्बती भाषा, तिब्बती संस्कृति और तिब्बती समाज-व्यवस्था का भी योगदान है। इसीलिए तिब्बती लोगों ने दलाई लामा और उनके सहयोगियों के मार्गदर्शन में निर्वासन के लंबे दौर के बावजूद अपने को एक सुगठित और सुव्यवस्थित संस्कृत-धार्मिक समुदाय के रूप में अपनी अस्मिता के सभी आयामों को नई महत्ता के साथ संरक्षित और संवर्धित किया है।

चीन सरकार ने 1959 में तिब्बत पर सैनिक कब्जा पूरा करने के बाद संस्कृति और धार्मिक आस्था-व्यवस्था को नष्ट करने के लिए योजनाबद्ध तरीके से काम किया है। तिब्बत स्वायत्तशासी क्षेत्र में 45 प्रतिशत निरक्षरता थी।

सर्वप्रथम, तिब्बती निर्वासित समुदाय ने अपनी राजनीतिक व्यवस्था को पारंपरिक आधारों से बदलकर जनतांत्रिक बना लिया है। दलाई लामा ने पिछले कई वर्षों से अपने सभी राजनीतिक अधिकार और दायित्व निर्वासित तिब्बतियों के वोट से चुनी संसद या प्रतिनिधि सभा को दे दिए हैं। इस 'संसद' में तिब्बत के सभी संप्रदायों और क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व होता है। एक नवोदित जनतांत्रिक शासन-व्यवस्था की तरह प्रवासी तिब्बतियों ने विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की स्वायत्तता को भी संस्थाबद्ध करना सीख लिया है।

दूसरे, धर्मधारा के अध्ययन-अध्यापन-शोध के अविरल प्रवाह के लिए तिब्बत में आदिकाल से 1959 तक विद्यमान मठों और शिक्षा केंद्रों को भारत में पुनः संरक्षित-संवर्धित कर लिया गया है। सेरा, गादेन और द्रेपुंग के तीन मठीय विश्वविद्यालयों की कर्नाटक में स्थापना की गई है। शाक्य केंद्र और मिन्द्रोलिंग मठ उत्तराखंड के राजपुर और क्लीमेंट टाउन में पुनःस्थापित हो चुका है। कर्मापा का मुख्यालय सिक्किम के रुमटेक में है। बॉन परम्परा का प्रतिनिधित्व जारी रखने के लिए एक केंद्र हिमाचल प्रदेश के डोलानजी में बन गया है। मुंडगोड (कर्नाटक), धर्मशाला (हिमाचल प्रदेश), सारनाथ (उत्तर प्रदेश) और लेह (लद्दाख) में बौद्ध विद्या के उच्च अध्ययन केंद्र विश्व स्तर की संस्था बन चुके हैं। इन केंद्रों में तिब्बती रचनाओं का पुस्तकालय, प्रकाशन और अनुवाद हो रहा है।

तीसरे, तिब्बती इतिहास, साहित्य और भाषा के ज्ञान के संरक्षण के लिए तिब्बती बाल विद्यालयों का भी एक सुव्यवस्थित संगठन है। इसीलिए तिब्बती प्रवासी समाज के स्त्री-पुरुष, 1959 और 2019 के बीच के 60 बरसों में- चार पीढ़ियों के अंदर ही- अपने पुरुषार्थ से दुनिया के सबसे सुशिक्षित 'निर्वासित' या 'शरणार्थी' समुदाय बन गए हैं। इन विद्यालयों में तिब्बत से भी बच्चे-बच्चियां शिक्षा लेने के लिए आते हैं। तिब्बती प्रवासी न सिर्फ अपने परिवार में और सामुदायिक जीवन में तिब्बती भाषा का इस्तेमाल करते हैं बल्कि परम पावन दलाई

7 प्रवासी तिब्बतियों ने अपने अंतरराष्ट्रीय समर्थक संगठनों की मदद से 2017 से 'तिब्बतः फाइव-फिफ्टी' की दो स्तरीय कार्य योजना तैयार की है। इसका संचालन धर्मशाला स्थित केंद्रीय तिब्बती प्रशासन द्वारा किया जा रहा है।

लामा अपने सभी सार्वजनिक कार्यक्रमों, विशेषकर कालचक्र अभिषेक से जुड़े एक सप्ताह तक चलने वाले शिक्षा-सत्रों में अपनी मातृभाषा को प्राथमिकता देते हैं। तिब्बती भाषा में रेडियो और टेलीविजन के दैनिक कार्यक्रमों ने भाषा की रक्षा और प्रवाह को बनाए रखा है।

चौथे, हर तिब्बती प्रवासी समुदाय क्षेत्र में तिब्बती चिकित्सा और ज्योतिष केंद्रों (मेनः त्सीः खांग) की व्यवस्था है। तिब्बती चिकित्सा पद्धति के शिक्षण के लिए धर्मशाला और सारनाथ में शिक्षा केंद्र भी कार्यरत है। तिब्बत मित्रों की मदद से तिब्बती चिकित्सा पद्धति का भारत में और दुनिया में स्वागत होने लगा है। सभी हिमालयी प्रदेशों में तिब्बती पद्धति की चिकित्सा को मान्यता मिली हुई है। भारत की राजधानी समेत कई महत्वपूर्ण नगरों में तिब्बती चिकित्सा को सर्वसुलभ बनाने की प्रक्रिया बेहद लोकप्रिय हो चुकी है।

पांचवे, तिब्बती संस्कृति, कला, नृत्य और संगीत के संरक्षण के लिए धर्मशाला में एक विशेष प्रशिक्षण केंद्र का लगातार विस्तार हुआ है। दिल्ली में एक आकर्षक 'तिब्बत हॉउस' भी कार्यरत है, जहां तिब्बती इतिहास, राजनीति, पर्यावरण और संस्कृति के बारे में नियमित व्याख्यान तथा संवाद आयोजित होते हैं। तिब्बती भाषा की शिक्षा दी जाती है। एक अच्छा पुस्तकालय और साहित्य केंद्र संचालित होता है।

भारत का अनुभव

भारत का चीन और तिब्बत के बारे में क्या अनुभव रहा है? भारत के लिए तिब्बत देश में ही सर्वाधिक पवित्र तीर्थ कैलाश-मानसरोवर है। इसलिए तिब्बत और तिब्बती भारतीयों के लिए अत्यंत घनिष्ठ हैं। तिब्बती लोग तो सातवीं शताब्दी से भारत को अपना 'गुरु देश' मानते हैं। तिब्बत का धर्म, भाषा, लिपि, व्यापार और संकट-समाधान सभी में भारत की सातवीं शताब्दी से 1959 तक शताब्दियों से निरंतर ऐतिहासिक भूमिका रही है। दलाई लामा और उनके साथ निर्वासन में रह रहे तिब्बती तो यह भी स्वीकारते हैं कि उनके तन-मन का अधिकांश तो भारत के ही आतिथ्य से सुरक्षित और संवर्धित हो रहा है। चीन के बौद्ध साधकों के लिए अतीत से ही भारत एक ज्ञानभूमि रही है। बोधगया, सारनाथ, कुशीनगर, नालंदा, तक्षशिला आदि की बार-बार यात्राएं चीनी विद्वानों का जरूरी कर्तव्य रहता आया है। व्यापार का भी लंबा इतिहास है। लेकिन समकालीन चीनी नायकों ने 'राष्ट्रवाद' को सर्वोपरि माना है। इसीलिए माओ-त्से-तुंग के नेतृत्व में चीन ने पंचशील समझौते की आठ बरस की अवधि पूरी होते ही 1962 में भारत को भी अपना निशाना बनाया। सीधे भारत की भूमि पर भी सैनिक चढ़ाई करके हमारा राष्ट्रीय आत्मविश्वास खंडित किया और एशिया की वर्चस्वता का दावेदार बन गया।[8]

तिब्बत मुक्ति साधना के समर्थकों की विभिन्न देशों में समितियां बढ़ती जा रही हैं। तिब्बत समर्थक विद्यार्थी मंच भी वैश्विक आकार ले चुका है। तिब्बत समर्थक विश्व संसदीय मंच कई देशों के सांसदों की मदद से बन गया है।

आज भी कम्युनिस्ट विचारधारा के कुछ समर्थक 1962 के भारत-चीन युद्ध और भारतीय ज़मीन पर चीनी कब्जे के लिए प्रायः नेहरू और कांग्रेस को और कभी-कभी दलाई लामा को दोषी ठहराते हैं। लेकिन उनके पास इस तथ्य का कोई उत्तर नहीं रहता कि चीन द्वारा 1962 के एकतरफा युद्ध-विराम के बाद से भारत के इर्द-गिर्द की घेरेबंदी क्यों जारी है। इसका पाकिस्तान, श्रीलंका, भूटान और नेपाल की आड़ में भारत को लगातार तनावग्रस्त किए रहना सर्वविदित है। हिन्द महासागर में चीनी नौसैनिक अड्डों का सिलसिला बन गया है। 'एक बेल्ट, एक सड़क' की मायावी योजना से चीन ने सभी छोटे देशों को फांस लिया है और भारत असहाय अकेलेपन के लिए अभिशप्त दीख रहा है।

इन सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि आज भी तिब्बत पर चीन का कब्ज़ा बरकरार है और दुनिया के अधिकांश देश चुप हैं। हर तरफ चीन से व्यापारिक, राजनयिक, सामरिक और बौद्धिक निकटता बनाने की लालसा है। अनेक नागरिक संगठन और विश्वविद्यालयीय शोध संस्थाएं इसे 'विदेशी राज' की बजाय मानवाधिकार हनन, सांस्कृतिक संहार और प्रकृति-क्षरण की शब्दावली से जोड़ती है। यह एक सदियों पुराने राष्ट्र को इक्कीसवीं शताब्दी में भी पूरी दुनिया की उपेक्षा करते हुए गुलामी में बांध रखने के भयानक सच को वैश्विक राजनीति में राष्ट्र-राज्य की व्यवस्था और औद्योगीकरण में निहित कुछ अनिवार्य दोषों से ढंकने जैसा है। कहां एक राष्ट्रीयता का दमन और कहां मानवाधिकार, पर्यावरण और सांस्कृतिक अन्याय! जबकि स्वयं चीन ने तिब्बती राष्ट्रीयता की अमिट वास्तविकता को अनदेखा नहीं किया है। इसीलिए 1980-90 के दौरान दलाई लामा के प्रतिनिधियों से संपर्क किया और आठ बार संवाद के लिए प्रतिनिधियों को बुला चुका है। यह अलग बात है कि भारत समेत बाकी दुनिया की चुप्पी से उसकी उद्दंडता में कोई फरक नहीं आया है।

तिब्बतियों की अपनी स्मृति में भूगोल के कुछ पक्ष और कुछ तारीखें अमिट हैं। तिब्बतियों को मालूम है की इस देश के पूर्व में सिंक्यांग, पश्चिम में कश्मीर, उत्तर में हिमालय और दक्षिण में कुनलून पर्वत है। इसका कुल क्षेत्रफल 47,000 वर्गमील से ज्यादा है। यह विश्व का तीसरा हिम-प्रदेश है और एशिया का विराट अक्षय जल स्तम्भ है। इसके पठार से पूर्व और उत्तर भारत को जलधारा से सम्पन्न बनाने वाली नदियों में ब्रह्मपुत्र, सिन्धु, सतलुज, कर्णाली, संकोसी

8 भारत-चीन युद्ध में भारत और चीन दोनों को निदोष बतानेवाले अनेक वृत्तांत हैं। इनमे से नेविल मैक्सवेल (2011) इंडिया'ज चाइना वार (नई दिल्ली, नटराज पब्लिकेशन), ब्रिगेडियर जे.पी. दलवी (2009) हिमालयन ब्लंडर (नई दिल्ली, नटराज पब्लिकेशन), बी.एम.कौल (1977) द अनटोल्ड स्टोरी (नई दिल्ली, एलाइड पब्लिशर्स), जान डब्ल्यू. गार्वर (2004) इंडिया, चाइना, द यू.एस., तिब्बत एंड द ओरिगिंस ऑफ 1962 वार (न्यूयार्क, फ्रांसिस एंड टेलर), जे. आर. सैगल (1979) द अन्फाट वार ऑफ 1962ः द नेफा देबैकल (नई दिल्ली, एलाइड पब्लिशर्स) तथा मृणाल तालुकेदार (2014) 1962ः साइना-इंडियन कनफ्लिक्ट (गुवाहाटी, काजीरंगा बुक्स) उल्लेखनीय हैं।

और मानस मुख्य हैं। जैसे सुदूर अतीत में तिब्बती सम्राट सोंग्त्सेन गाम्पो के शासन काल (604–650 ई.) में उनकी नेपाली मूल की रानी भृकुति की पहल पर तिब्बत में बुद्ध विचार को राजकीय संरक्षण देने की शुरुआत हुई। सम्राट गम्पो ने तिब्बती भाषा की लिपि, व्याकरण और वर्णमाला की आवश्यकता को पूरा करने के लिए थोंमी सम्भोटा को भारत भेजा और उन्होंने देव विद्यासिंह के सान्निध्य में रहकर भारतीय भाषाओं को सीखा। तिब्बत लौटकर भारतीय वर्णमाला के आधार पर वर्तमान तिब्बती वर्णमाला को आकार देना शुरू किया। यही तिब्बत-भारत संबंधों की शुरुआत थी। रामायण, अमरकोश से लेकर नागार्जुन और कमलशील आदि बौद्ध दार्शनिकों की रचनाओं के तिब्बती अनुवाद से इसकी अविरलता बनी। इसे बोधिवृक्ष की दो शाखाओं के रूप में भी सम्मान मिला। बुद्धमार्ग परिचय की एक शताब्दी के अंदर ही 780 ई. से तिब्बत का उत्कर्ष-काल आरम्भ हुआ।

समकालीन दौर में, चीन का सैनिक दबाव असह्य होने के बाद तिब्बत के हजारों लोगों ने अपने धर्मगुरु और शासन-प्रमुख दलाई लामा के साथ तिब्बत छोड़कर भारत में 1959 में जरूर शरण ली। लेकिन उनको यह भी याद है कि 1911 में मिंग साम्राज्य के पतन के बाद चीनी शासन ने तिब्बत के साथ हुए अत्याचार के लिए क्षमा मांगी और तिब्बत की स्वतंत्रता को स्वीकार किया था। तिब्बत ने भी 1913 में मंगोलिया और 1914 में ब्रिटिश राज के साथ समझौते किए थे। दुर्भाग्यवश पराधीन होने से यह शरणार्थी तिब्बती आबादी कुछ हजार से बढ़कर एक लाख पचास हजार से ऊपर हो चुके हैं। पराधीनता से पीड़ित तिब्बती स्त्री-पुरुष भारत और नेपाल के साथ ही दुनिया के कई देशों में फैल गए हैं। इस वर्ष 2019 में तिब्बतियों के शरणार्थी जीवन के 60 साल हुए हैं और इनकी पीड़ा का कोई अंत दिखाई नहीं पड़ रहा है। क्योंकि चीन का तिब्बत में दमन जारी है। चीनी उपनिवेश के रूप में आपदाग्रस्त तिब्बत में राष्ट्रीय स्वतंत्रता, बौद्ध धर्म, तिब्बती संस्कृति, हिमालयी पर्यावरण और एशिया की जल संपदा का तेजी से विनाश हो रहा है। लेकिन भारत समेत पूरी दुनिया की ओर से कोई उपाय नहीं बन पा रहा है। इस अपार दुःख और दमन के क्षण में भी निर्वासित तिब्बती हमारी सरकारी और नागरिक मदद के लिए 'धन्यवाद भारत!' का आयोजन करना नहीं भुलाते हैं।

जब तिब्बत के बाद चीन ने भारत के हिमालयी क्षेत्र को 1962 में अपने विस्तारवाद का निशाना बनाया तो 20 अक्तूबर 1962 से 32 दिनों तक चीनी सेनाएं हिमालय के भारतीय हिस्से में लद्दाख से लेकर अरुणाचल और असम तक आक्रमणकारी बनकर बढ़ती चली गई। भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्र के नाम संदेश में असम के हाथ से निकल जाने की आशंका तक जाहिर कर दी थी, क्योंकि चीनी सेनाएं तेजपुर शहर तक पहुंच चुकी थीं। तबसे आजतक 4000 किलोमीटर लंबी पूरी भारत-चीन सीमा विवादग्रस्त और तनावपूर्ण है। दोनों देशों के बीच 1,35,000 वर्ग किलोमीटर भूमि को लेकर विवाद है। चीन ने पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर में 800 वर्ग किलोमीटर जमीन को अपने नियंत्रण में लेकर चीन-पाकिस्तान संपर्क क्षेत्र बना दिया है। चीन-पाकिस्तान की सामरिक साझेदारी ने इस विवाद को और विस्तृत कर दिया है। इस पूरे कथानक को भारत की सत्ता-व्यवस्था, पत्रकारिता, राजनीतिक दलों, सैनिक सेवा, विदेश सेवा और प्रशासनिक सेवा में रह चुके अनेक अनुभवी लोगों ने अनेक दृष्टिकोणों से तथ्यों की छानबीन की है और हमारी नीतियों की दिशाहीनता की आलोचना की है। लेकिन सरकारों के बदलने के बावजूद भारत-चीन-तिब्बत त्रिकोण में चीन की भुजा लगातार लंबी होती चली गई है।[9]

तिब्बती लोगों ने दलाई लामा और उनके सहयोगियों के मार्गदर्शन में निर्वासन के लंबे दौर के बावजूद अपने को एक सुगठित और सुव्यवस्थित संस्कृत-धार्मिक समुदाय के रूप में नई महत्ता के साथ संरक्षित और संवर्धित किया है।

अटल बिहारी वाजपेयी के प्रधानमंत्रित्व काल में चीन को रिझाने के लिए एक नया प्रयास हुआ, जिसमें हमारी सरकार द्वारा संयुक्त वक्तव्य में 'तिब्बत स्वायत्त क्षेत्र' को 'चीन गणराज्य का अभिन्न अंग' तक मान लिया गया। इसके बदले में चीन ने सिर्फ सिक्किम के भारत में 1976 में हुए विलय को मान्यता दी। तिब्बत की स्वायत्तता के बारे में या चीन के कब्जे में 1962 से फंसे एक लाख वर्गमील भारतीय धरती की कोई चर्चा नहीं हुई। दोनों तरफ से सीमा क्षेत्र के दावे से जुड़े नक्शों का भी आदान-प्रदान नहीं हो पाया है।

फिर डॉ. मनमोहन सिंह के 10 बरस के प्रधानमंत्रित्व में उदारीकरण के बहाने से हमने अपने बाजार को चीन के लिए खोल दिया। सीमा के सवाल पर होंठ सिल लिए। सिक्किम के व्यापार मार्ग के बारे में चीन की उदासीनता की उपेक्षा की। इस सरकार की चीन के बारे में नरमी को कम्युनिस्ट समर्थन था। यह आशा थी कि मुनाफे के महत्त्व को समझते हुए चीन अपने पूंजीवादी पुनर्जन्म के दौर में अपनी कम्युनिस्ट-काल की राष्ट्रवादी प्राथमिकताएं बदलकर भारत की सद्भावना का आदर करेगा। सीमा संबंधी विवाद पर ध्यान देकर हमारे हिमालय क्षेत्र के विकास में हमें सहयोग करेगा। लेकिन चीन की प्राथमिकता सूची में अमेरिका के अलावा किसी को जगह नहीं मिली। उसने

9 नब्बे के शुरुआती बरसों में इस प्रसंग पर कई विचारोत्तेजक आलेख आए। जैसे निखिल चक्रवर्ती (हिन्दुस्तान टाइम्स, 22 जून 1993); अजित भट्टाचार्जी (पायनीयर, 3 मार्च 1995). लेकिन नई आर्थिक नीतियों के दौर में चीन का नया आर्थिक आकर्षण बना। तब से मीडिया और राजनीति दोनों मोर्चों पर चुप्पी का प्रसार हो रहा है। भारत की लोकसभा तक में आखिरी महत्वपूर्ण चर्चा 1967 में हुई थी।

तो हमें अफ्रीका में अपना प्रतिद्वंदी ही माना।

इधर फिर नरेंद्र मोदी के नेतृत्व में एक गैर-कांग्रेसी गैर-कम्युनिस्ट सरकार केंद्र में 2014 से शासन की बागडोर संभाले हुए है। 2019 में इसे दुबारा पांच साल के लिए शासन का जनादेश मिला है। इस सरकार ने तिब्बत के स्वराज के दमन के भयानक परिणाम और हमारी जमीन पर आधी शताब्दी से चीनी कब्ज़े के शर्मनाक सच के प्रति संवेदनशीलता की जरूरत पहचानी थी। अरुणाचल से लेकर लद्दाख तक नई मुस्तैदी दिखाई। विदेश नीति के चीनी पक्ष के विशेषज्ञ को विदेशमंत्री बनाया गया। तिब्बती निर्वासितों के चुने हुए सर्वोच्च प्रतिनिधि को शपथ ग्रहण समारोह में बुलाया। चीन से संवाद को अपनी सर्वोच्च प्राथमिकता बना दी गई। लेकिन चीन का रुख बेहतर नहीं हुआ है। न आयात-निर्यात असंतुलन में। न हिमालय नीति में। न हिन्द महासागर नीति में। न एशिया-प्रशांत क्षेत्र की किलेबंदी में। हमको डोकलाम के बहाने भूटान-चीन विवाद का तोहफा मिला। 'ब्रिक्स' का मंच नाकामयाब हो गया। 'सार्क' कागज़ी फूल बना दिया गया। हम चीन की चालबाजी से बचने के लिए अपने आस-पास के 18 देशों के 'मुक्त-व्यापार गठबंधन' से बाहर निकलने को विवश हो गए।

संभवतः इसी सच के दूसरे पहलू के रूप में यह जानने का वक्त आ गया है कि भारत-चीन के रिश्तों में सत्य के स्वीकार के अलावा कोई दूसरा उपाय नहीं है। न नेहरू-इंदिरा की तरह सरहदी इलाके का भूदान, न वाजपेयी की तरह तिब्बत की उपेक्षा, न मनमोहन सिंह की तरह बाज़ार के दरवाजे एकतरफा खोलना, न मोदी की तरह कभी नरम कभी गरम। सच यही है कि भारत के शासक वर्ग के लिए हो न हो, भारत के जनसाधारण के लिए और हिमालय के लोगों के लिए तिब्बत की आज़ादी और भारत की सामरिक-आर्थिक सुरक्षा भी एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। इसलिए यह जांचने का समय आ गया है कि क्या भारत और चीन के बीच समझदारी का रास्ता तिब्बत के स्वराज ('वास्तविक स्वायत्तता') से ही होकर बनाया जा सकेगा? नहीं तो नहीं! दलाई लामा और तिब्बत मुक्ति साधना से जुड़े लोगों का यही सुझाव है। क्या हम 'अति सतर्कता' की ग्रंथि से मुक्ति पा सकते हैं? क्या बगैर छोटे-बड़े पड़ोसियों का अहित किए अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा करने का युगधर्म निभाने के लिए चीन समेत बाकी दुनिया के साथ सार्थक संवाद की पहल कर सकते हैं?

चीन कैसे लगातार विस्तारवादी बना हुआ है?

वैसे भारत और चीन विश्व की दो प्राचीन सभ्यताएं हैं, जिसमें दुनिया की 40 प्रतिशत आबादी का निवास है। दोनों इक्कीसवीं शताब्दी की दो प्रमुख आर्थिक शक्तियां भी हैं। चीन ने साम्यवाद के

तिब्बत ने भी 1913 में मंगोलिया और 1914 में ब्रिटिश राज के साथ समझौते किए थे। दुर्भाग्यवश पराधीन होने से यह शरणार्थी तिब्बती आबादी कुछ हजार से बढ़कर एक लाख पचास हजार से ऊपर हो चुकी है।

माओवादी मार्ग से अपना नवनिर्माण किया है, जिसमें कम्युनिस्ट पार्टी और चीनी सेना की केंद्रीयता है। भारत ने संसदीय लोकतंत्र और मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की राह अपनाई है। लेकिन इन दोनों महादेशों के बीच में स्वतंत्र तिब्बत देश के विशाल क्षेत्र की उपस्थिति के कारण 1951-62 के पहले सदियों तक शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की स्मृतियां हैं। कोई सामरिक-राजनीतिक तनाव नहीं था। सिर्फ सीमित सांस्कृतिक, धार्मिक और व्यापारिक संपर्क था। इसीलिए आज की जटिल परिस्थिति को देखकर आश्चर्य होना स्वाभाविक है। यह कैसे बिगड़ गया?

वस्तुतः यूरोप महाद्वीप के दो-तिहाई आकार वाले तिब्बत को 1949-1959 के बीच चीनी साम्राज्यवाद का शिकार बनाने के बाद से न सिर्फ हिमालय अशांत बना दिया गया है बल्कि एशिया-प्रशांत महासागर क्षेत्र में अघोषित हथियारी होड़ भी जारी है। पहले चीन ने परमाणु बम बनाया और तिब्बत को मिसाइलों, सामरिक अड्डों और चीनी सैनिकों के जमावड़े से सदियों से बौद्ध मार्गी साधना में जुटे शांतिप्रिय देश से बदलकर सभी पड़ोसी देशों के लिए एक भयानक चुनौती के रूप में विकृत किया। फिर आत्मरक्षा में भारत ने परमाणु शक्ति में भारी पूंजी निवेश किया। देखादेखी पकिस्तान ने भी परमाणु बम बनाया और भारत की बराबरी में परमाणु अस्त्रों का जखीरा जमा किया। इससे हम पड़ोसियों से, विशेषकर चीन-पाकिस्तान गठजोड़ से बचाव की तैयारी की कीमत पर गरीबी-अशिक्षा-बीमारी की लड़ाई में फिसलते जा रहे हैं।

यह दावा किया जाता है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से दुनिया अमेरिका-पश्चिमी यूरोप की पहल पर स्वतंत्रता और जनतंत्र की तरफ बढ़ी है। सोवियत संघ के नेतृत्व में कम्युनिस्ट देशों का भी एक खेमा बन रहा था। लेकिन उसके अंतर्विरोध और विश्व पूंजीवाद के दबाव से वह बिखर गया। इस परिवेश में इस तथ्य की अनदेखी कैसे की जाए कि इसी दौर में चीनी राष्ट्रवाद के आतंक का विस्तार भी जारी है। यह शोध का विषय है कि इन दोनों प्रवृत्तियों में क्या संबंध है? चीनी आर्थिकी और सामरिक शक्ति की दोहरी ताकत के आगे दुनिया भर में चुप्पी है। न संयुक्त राष्ट्र, न यूरोपीय महासंघ। न इस्लामी राष्ट्रसंघ। न राष्ट्रमंडल- चीन के अनैतिक और विस्तारवादी आचरण के बारे में कोई क्यों नहीं बोलता? इस रहस्यमयी वैश्विक चुप्पी के परिणाम भयानक है। चीन के शासकों ने अपनी ही नई पीढ़ी को, चीन को एक लोकतांत्रिक देश बनाने के सपने को टैंकों से रौंद दिया। पूर्वी तुर्किस्तान या सिंक्यांग और मंगोलिया का एक हिस्सा तिब्बत और भारत के हिमालयी सीमा क्षेत्र की तरह अन्यायपूर्ण चीनी कब्जे में फंसा हुआ है। पूर्वी तुर्किस्तान के लोग उग्युर कहलाते हैं और इस्लाम को मानने वाले हैं। उनके उग्र प्रतिरोध के कारण लंबे समय से चीन के शासकों ने 'मार्शल लॉ' लगाकर

इसे बाकी दुनिया से अलग कर रखा है। बिना किसी ऐतिहासिक आधार के तिब्बत और सिंक्यांग को चीन अपने नक्शे में चीन के प्रदेशों के रूप में दिखाता है। भारतीय सीमा क्षेत्र के 1962 से कब्जाए क्षेत्र के नक्शे ही नहीं प्रकाशित करता। कुल मिलाकर चीन के 18 पड़ोसी देश हैं, जिनकी थल सीमा या जल सीमा चीन से मिलती है और अपनी बढ़ती आर्थिक और सामरिक शक्ति के बूते दुनिया की अनदेखी करते हुए चीन का अपने हर पड़ोसी राष्ट्र के साथ सीमा विवाद है। कुछ को उपनिवेश बना रखा है। भारत, रूस और वियतनाम के साथ हथियारी टकराहटें हो चुकी हैं। भूटान और म्यांमार से लेकर इंडोनेशिया और ताईवान से चीन का विवाद बढ़ता जा रहा है।

तिब्बती समाज की आत्मरक्षा का अविश्वसनीय सच

फिर भी यह सराहनीय है कि वैश्विक वर्चस्व के माहौल में भी चीन के कब्जे से आज़ादी के लिए तिब्बती आँखों में सपना बना हुआ है। हजारों तिब्बती स्त्री-पुरुष छह दशकों से देश-विदेश में बौद्ध धर्म की मर्यादा का पालन करते हुए दलाई लामा के मार्गदर्शन में तिब्बती अस्मिता की रक्षा और तिब्बत देश की मुक्ति-साधना में लगे हैं। इस निरंतरता में पांच विशिष्टताओं का योगदान है- 1. दलाई लामा का निर्मल नेतृत्व, 2. तिब्बती संस्कृति की गहरी जड़ें, 3. तिब्बती समाज की सक्रिय एकता, 4. चीन द्वारा तिब्बत का निर्मम सांस्कृतिक दमन और प्रकृति का दोहन-शोषण, और 5. भारत समेत दुनियाभर के स्वतंत्रता-प्रेमी नागरिकों का बढ़ता तिब्बत-सरोकार।

यह सबको मालूम है कि कम्युनिस्ट चीन की गुलामी की बजाय निर्वासन की राह चुनने वाले तिब्बती समाज की पहली पीढ़ी के स्त्री-पुरुष अब अत्यंत वृद्ध हो चुके हैं। स्वयं दलाई लामा की उम्र 85 बरस है। लेकिन उनका प्रभाव बढ़ता जा रहा है। 1959 तक सिर्फ तिब्बत में सम्मानित दलाई लामा आज छह दशकों के निर्वासन के बावजूद विश्वभर में शांति और करुणा के सबसे महत्वपूर्ण मार्गदर्शक के रूप में मान्य हो गए हैं। क्योंकि वह एक साथ तीन भूमिकाओं में संतुलन बनाए हुए हैंः तिब्बत देशप्रेम, बौद्ध भिक्षु, और विश्व-मानव। इसलिए उनकी तरफ से सार्वभौमिक जिम्मेदारी की कसौटी पर ही तिब्बत मुक्ति-साधना का अभियान चल रहा है। वह तिब्बत का हित तो चाहते हैं, लेकिन इसके लिए चीन का अहित नहीं चाहते। न भारत-चीन संबंधों में खटास बढ़ाना चाहते हैं।[10]

इस प्रतिबद्धता के कारण दलाई लामा के नेतृत्व में 1974 से 'पूर्ण स्वतंत्रता' की

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से दुनिया अमेरिका-पश्चिमी यूरोप की पहल पर स्वतंत्रता और जनतंत्र की तरफ बढ़ी है। सोवियत संघ के नेतृत्व में कम्युनिस्ट देशों का भी एक खेमा बन रहा था। लेकिन विश्व पूंजीवाद के दबाव से वह बिखर गया।

इतिहास आधारित सत्यता के बावजूद बदलती विश्व-दशा के अनुकूल 'न्यायोचित स्वायत्तता' प्राप्त करने के लिए 'मध्यम मार्ग की नीति' विकसित की गई है। इसके आधार पर 1979 में राष्ट्रपति देंग-शियाओ-फेंग के वार्ता प्रस्ताव का स्वागत करते हुए समझौता-वार्ता का आरंभ भी संभव हुआ। फिर 1987-89 में तिब्बत में दमन चक्र चलने लगा। 1993 में संधि-वार्ता प्रक्रिया टूट गई और कोई नतीजा नहीं निकला। बाद में 2002 में फिर से संवाद बना। पुनः 2008 में तिब्बत के लोग आंदोलित हुए और दमन-चक्र के शिकार बनाए गए। कुल नौ बार वार्ता हो चुकी है। विशेष प्रगति के न होने पर भी तिब्बती प्रवासियों ने 2008-2010 के बीच व्यापक तरीके से इसी रास्ते पर चलने के प्रयास को जारी रखने का अनुमोदन किया। इस नीति का सारांश क्या है? न वर्तमान दुर्दशा को सहन करना, न चीन से राजनीतिक रूप से स्वतंत्र होना। 'माध्यम मार्ग नीति' के परिणामों के मूल्यांकन को लेकर विवाद है। तिब्बती नेतृत्व इसके कम से कम 12 लाभ बताता है।[11] यह 'यूरोपीय संघ' का उदाहरण देते हैं, जहां राष्ट्रवाद की बजाय राष्ट्रीय स्वायत्तता के आधार पर राष्ट्रीयताओं के महासंघ की स्थापना के जरिए अस्मिताओं और साझा हितों को एकसाथ बढ़ाया जा रहा है। जबकि अनेक सरोकारी तिब्बती युवा तिब्बत की मुक्ति साधना के पूरा करने के लिए 'रान्ज़ेन' (आज़ादी) को ही एकमात्र साधन मानते है। तिब्बत के भारतीय समर्थकों के संगठनों में भी 'तिब्बत की आज़ादी-भारत की सुरक्षा' की प्रतिबद्धता है।

उपसंहार

तिब्बत चीनी साम्राज्यवाद का शिकार होने के पहले दुनिया में लगभग अनजान देश था। लेकिन पिछले 60 बरसों के विश्वव्यापी अभियानों के कारण तिब्बती संस्कृति के प्रति अपरिचय खत्म हुआ है। विश्व में सम्मान बढ़ रहा है। आध्यात्मिकता से लेकर स्वास्थ्य-संवर्धन की तिब्बती पद्धति और विधियों के प्रति दुनिया की दिलचस्पी बढ़ रही है। भारत समेत दुनिया के अनेक देशों में तिब्बत के इतिहास, भाषा, दर्शन, भूगोल, पर्यावरण, समाज और संस्कृति का अध्ययन भी होने लगा है।

यह बहुत बड़ी बात है कि निर्वासन में जी रहे तिब्बतियों ने अपनी अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा के लिए अनवरत सक्रियता और प्रभावशाली एकजुटता में सफलता पाई है। क्रमशः एक जनतांत्रिक प्रशासन और अनुशासन भी स्थापित किया है। हर प्रमुख देश में प्रवासी तिब्बती प्रशासन की सक्रिय उपस्थिति है। तिब्बती

10 दलाई लामा (1996) 'फोरवर्ड', तिब्बत ए सौर्सबुक (संपादकः आनंद कुमार) (नई दिल्ली, पृष्ठ vii - x)

11 केंद्रीय तिब्बती प्रशासन (2013) माध्यम-मार्ग की नीति का स्वरूप, विकास-क्रम तथा परिणामः एक परिचय (धर्मशाला, सूचना एवं अंतरराष्ट्रीय संपर्क विभाग, केंद्रीय तिब्बती प्रशासन)

सच को दुनिया के सामने रखने के लिए तिब्बती, हिंदी, अंग्रेजी और चीनी भाषा के सूचना तंत्र की भी सक्रियता है। तिब्बती संसद से लेकर तिब्बती महिला संघ और तिब्बती युवक कांग्रेस के जरिए चार पीढ़ियों के तिब्बती स्त्री-पुरुषों की एकजुटता इस सबका मूल स्रोत है।

भारत समेत दुनिया के स्वतंत्रता प्रेमी नागरिकों में तिब्बत के लिए सरोकार का बढ़ना सबसे आशाजनक परिवर्तन है। यह अभियान 1959 में कलकत्ता में एक नागरिक सम्मेलन आयोजित करके लोकनायक जयप्रकाश नारायण ने शुरू किया। इसके 60 बरस पूरे होने पर तिब्बत-भारत समन्वय केंद्र द्वारा कोलकाता में एक राष्ट्रीय समागम हुआ है। इसे डॉ. लोहिया की प्रेरणा से 60 के दशक में आयोजित हिमालय बचाओ सम्मेलनों से जनाधार मिला। तिब्बती सहयोग से उनकी जन्म शताब्दी के दौरान हिमालय और तिब्बत के बारे में लोहिया की रचनाओं का एक संकलन पुनः प्रकाशित कराया गया है। फिर जार्ज फर्नांडीज ने अस्सी के दशक में इसकी कमान संभाली। इसके बाद लोकसभा के पूर्व अध्यक्ष रबि राय की अध्यक्षता में भारत-तिब्बत मैत्री संघ के रूप में देश के 100 से अधिक जिलों में प्रसार मिला। इधर नई शताब्दी के शुभारम्भ के साथ श्री इन्द्रेश कुमार के मार्गदर्शन में हिमालय परिवार के रूप में जन समर्थन की एक उल्लेखनीय नई धारा बन चुकी है। इनकी बढती बहुलता के कारण तिब्बत मुक्ति साधकों ने भारत-तिब्बत समन्वय केंद्र के रूप में एक व्यवस्थित प्रबंध भी बना दिया है।

तिब्बत मुक्ति साधना को, चीन की आर्थिक प्रबलता और सैनिक कठोरता के बावजूद, वैश्विक स्तर पर अब तक बिशप टूटू की पहल पर नोबल शांति पुरस्कार विभूषित अनेकों शांतिदूतों से लेकर हजारों अनाम स्त्री-पुरुषों का योगदान मिल चुका है। अमेरिका, कनाडा, यूरोपीय संघ से लेकर पांच महाद्वीपों के अधिकांश देशों में तिब्बत समर्थकों के राष्ट्रीय संगठन सक्रिय हैं। लेकिन दुनिया तो राष्ट्रों की सरकारों के अंतरराष्ट्रीय संबंधों पर खड़ी है और चीन के लोभ और भय से दुनिया के देशों में चुप्पी टूटने का नाम नहीं ले रही है। क्या तिब्बती 'अत्यधिक आशावाद' और चीन 'अत्यधिक संशयवाद' के कारण इस संकट का समाधान नहीं कर पा रहे हैं? क्या भारत का विदेश नीति प्रतिष्ठान भी 'अत्यधिक सतर्कतावाद' के कारण हाथ पर हाथ धरे बैठा रहा है? इसका उत्तर कौन दे सकता है? ■

चीनी आक्रमण पर लोकसभा का प्रस्ताव

दस्तावेज

तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने 14 नवम्बर 1962 को लोकसभा में चीन के आक्रमण पर 8 दिन की बहस का जवाब देते हुए राष्ट्र का आह्वान किया कि वह चीनी आक्रमणकारियों को भारत की भूमि से खदेड़ देने में अपनी सारी शक्ति और बुद्धि लगा दें। उन्होंने उस बात को दोहराया कि सरकार अपने इस प्रस्ताव पर अडिग है जब चीनी सेना सीमा पर 8 सितम्बर के पहले की स्थिति पर लौट जाए। लोकसभा में चीन पर बहस एक रिकार्ड बहस थी। इसमें 162 सदस्यों ने भाग लिया। अध्यक्ष सरदार हुकुम सिंह के सुझाव पर सारे सदस्यों ने खड़े होकर प्रधानमंत्री द्वारा रखा गया प्रस्ताव पारित किया।

प्रस्ताव

यह सदन गहरे अफसोस के साथ यह कहता है कि भारत की सद्भावना और मैत्रीपूर्ण संबंध कायम करने की सतत चेष्टाओं के बावजूद चीन ने उसके साथ विश्वासघात किया। चीन की सरकार के प्रति भारत की सद्भावना और उसके साथ मैत्री की चेष्टाओं का आधार एक-दूसरे की स्वाधीनता को स्वीकार करना, एक-दूसरे पर आक्रमण न करना और एक-दूसरे के मामलों में हस्तक्षेप न करना तथा शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व का सिद्धांत था। चीन ने इस सद्भाव और मैत्री तथा पंचशील के सिद्धांतों (जिन पर दोनों देशों के बीच सहमति हुई थी) के साथ विश्वासघात किया है और भारत पर आक्रमण किया है तथा अपनी सशस्त्र सेनाओं द्वारा भारत पर बड़े पैमाने पर चढ़ाई करने का सूत्रपात किया है।

यह सदन हमारी सशस्त्र सेनाओं के अफसरों और जवानों ने हमारी सीमाओं की रक्षा करने में जो वीरतापूर्ण संघर्ष किया है, उनकी प्रशंसा करता है और उन शहीदों के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है, जिन्होंने हमारी मातृभूमि के सम्मान और अखंडता की रक्षा करने में अपने प्राणों की आहुति दी है।

यह सदन चीन की चढ़ाई में उत्पन्न संकट के प्रति भारत की जनता ने जो अद्भुत और स्वतःस्फूर्त चेतना और सक्रियता दिखाई है, उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करता है। हमारी जनता के सभी वर्गों में इस गंभीर राष्ट्रीय संकट का सामना करने के लिए हमारे सभी साधनों और स्रोतों को लगाने की जो जी-जान चेष्टा देखी गई है, उसका कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करता हूं। स्वाधीनता, त्याग और बलिदान की ज्योति फिर से प्रज्जवलित हो उठी है और भारत की स्वतंत्रता और अखंडता की रक्षा के लिए उत्सर्ग की भावना का नए सिरे से उदय हुआ है।

यह सदन चीन के आक्रमण और चढ़ाई के खिलाफ हमारे संघर्ष की संकटपूर्ण घड़ी में मैत्री भाव वाले बहुत से देशों से हमें जो नैतिक समर्थन और सामानों की मदद मिली है, उसके लिए उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है।

यह सदन आशा और विश्वास के साथ भारत की जनता के इस दृढ़ संकल्प को प्रकट करता है कि चाहे कितना ही लंबा और कठिन संघर्ष क्यों न करना पड़े भारत की पवित्र भूमि से चीनी आक्रमणकारियों को खदेड़ा जाएगा ही।

(हिन्दुस्तान स्टैंडर्ड, स्टेट्समैन, 15 नवंबर 1962)

चीन के साथ कैसा हो भारत का संबंध

प्रियदर्शन

भारत और चीन के बीच ताज़ा विवाद की चर्चा से पहले हम इसकी पृष्ठभूमि समझ लें। भारत और चीन दो विशालकाय पड़ोसी हैं- आबादी के हिसाब से दुनिया के दो सबसे बड़े देश और प्राचीनता के लिहाज से भी दुनिया के सबसे पुराने देश। चीन और भारत के बीच संबंध बहुत पुराना है। पूरे चीन में बुद्ध का धार्मिक-सांस्कृतिक प्रभाव सदियों तक इतना गहरा रहा कि बौद्ध धर्म उसकी मूल धार्मिक पहचान बन गया। दूसरी तरफ भारत में भी कन्फ्यूशियस और लाओत्से को पढ़ने वाले बहुत सारे लोग रहे। यही नहीं, प्राचीन भारत के दो कालखंडों का इतिहास पढ़ते हुए हमें कम से कम तीन चीनी यात्रियों- ह्वेनसांग, फाहियान और इत्सिंग- के जुटाए हुए ब्योरे भी पढ़ने पड़ते हैं।

भारत 1947 में आजाद हुआ और चीन की कम्युनिस्ट क्रांति 1949 में हुई। यानी एक तरह से दोनों के नवनिर्माण की यात्रा लगभग साथ-साथ शुरू होती है। इस स्थिति में यह बहुत स्वाभाविक है कि भारत और चीन दोनों कई स्थलों पर एक-दूसरे के प्रतिस्पर्द्धी भी बनें और कई जगहों पर एक-दूसरे के साथ भी दिखें।

सदियों का सिलसिला 50 के दशक में टूटा : शायद यही स्वाभाविकता थी जो भारत के पहले प्रधानमंत्री जवहरलाल नेहरू को 50 के दशक में चीन के साथ दोस्ती को लेकर बहुत आशावान बनाती थी, जिसकी छाया में 'हिंदी-चीनी भाई-भाई' जैसा लुभावना नारा दिया जाता था। लेकिन 50 के दशक में ही बहुत सारी ऐसी अस्वाभाविक घटनाएं घटित होती हैं, जिनके साथ सदियों से चला आ रहा सिलसिला टूटता है। चीन की विस्तारवादी महत्वाकांक्षाएं सामने आती हैं और अंततः 1962 में भारत और चीन के बीच एक पूरा युद्ध होता है। इसके पहले तिब्बत की सांस्कृतिक पहचान और स्वायत्तता का चीन एक तरह से अपहरण कर लेता है और किशोर दलाई लामा को हिमालयी दर्रों से भागते हुए भारत में शरण लेनी पड़ती है। भारत दलाई लामा का निर्वासित सरकार को मान्यता देता है। यह मान्यता इस बात के बावजूद अब तक कायम है कि तिब्बत पर चीन की राजनीतिक संप्रभुता को भारत ने औपचारिक तौर पर स्वीकार कर लिया है।

कम हिस्से पर विवाद भी बहुत महत्वपूर्ण : सीमा विवाद पर लौटें। भारत और चीन एक तरह से 3500 किलोमीटर की सरहद साझा करते हैं। मगर इसमें विवादित हिस्सा बहुत थोड़ा है। हालांकि यह विवाद भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। एक विवाद तो अक्साई चिन को लेकर है जो सदियों से लद्दाख का हिस्सा रहा है, मगर जिस पर 50 के दशक में ही चीन ने कब्जा कर लिया था। दरअसल अक्साई चिन 37,000 वर्ग किलोमीटर का इलाका है, जो समुद्र तट से 14,000 फुट से 22,500 फुट की उंचाई पर बढ़ते पहाड़ों से बना है। यहां आबादी नहीं के बराबर है। हालांकि यह रणनीतिक तौर पर खासा महत्वपूर्ण है। इस उंचाई पर भारत की ओर से जाना कहीं ज्यादा मुश्किल है, जबकि चीन की ओर से रास्ता आसान है। चीन इसे तिब्बत और शिनजियांग को जोड़ने वाले हाई-वे की तरह इस्तेमाल करता है। 50 के दशक में उसने यहां सड़क तक बना ली। अक्साई चिन पर चीन के आधिपत्य के बावजूद, भारत ने कभी उसकी संप्रभुता को मान्यता नहीं दी है। कहना मुश्किल है, इस विवाद का हल क्या होगा।

चीन की नीति दोस्ताना नहीं है। वह सामने कुछ और पीठ पीछे कुछ और सोचता है। अभी हाल में लद्दाख में जो हुआ है, वह इसी का परिणाम है। भारत को चीन से सचेत होकर अपनी बात पर अडिग रहकर चीन का मनोबल तोड़ना होगा।

चीन ने सिक्किम राज्य को मान्यता दी : अक्साई चिन के अलावा विवादग्रस्त इलाके प्रमुखतः दो हैं- एक तो अरुणाचल प्रदेश का है जिसे कभी नेफा यानी नॉर्थ-ईस्ट फ्रंटियर एजेंसी- कहते थे और जिसके लिए डॉ. राममनोहर लोहिया 'उर्वसीयम' जैसा सुंदर नाम प्रस्तावित किया करते थे। इसके अलावा लद्दाख के एक हिस्से पर चीन दावा करता रहा है, जिसे भारत हमेशा से खारिज करता रहा है। बल्कि सीमा विवाद पर पिछले 70 वर्षों की दो बड़ी भारतीय उपलब्धियां यह हैं कि सिक्किम पर चीन ने भारत का दावा पूरी तरह मंजूर कर लिया और अब यह निर्विवाद तौर पर भारतीय राज्य है। इसी तरह

अरुणाचल प्रदेश भी पूरी तरह भारत का है। 80 के दशक में जब भारत ने अरुणाचल प्रदेश को अपना एक राज्य बनाया, तब भी चीन ने काफी विरोध किया था। लेकिन यह विरोध बेअसर रहा। अरुणाचल के तवांग को लेकर चीन अब भी विरोध जताता रहता है, लेकिन वहां भी उसके सुर मद्धिम हैं।

लद्दाख में 62 से ही तनातनी : दरअसल यह लद्दाख का इलाका ही है, जहां 1962 के बाद से ही भारत और चीन की सेनाओं में वास्तविक नियंत्रण रेखा तय करने को लेकर तनातनी रही है। 1962 में चीनी सैनिकों ने जहां तक नियंत्रण कर लिया था, उसे 1967 आते-आते भारतीय सैनिकों ने कुछ खाली कराया और मोटे तौर पर यह स्थिति हाल-हाल तक बनी रही। 90 के दशक में भारत और चीन के बीच बातचीत से सीमा विवाद हल करने का समझौता हुआ, जिसके तहत लगातार चरणबद्ध चर्चाएं चलती रही हैं। लेकिन इस बातचीत के बीच और बावजूद दोनों सेनाओं में धक्का-मुक्की से लेकर आपसी झड़प तक के दृश्य बीच-बीच में दिखते रहे हैं। लेकिन हमेशा यह माना जाता रहा और होता भी रहा कि स्थानीय सैन्य

भारत-चीन में एक विवाद तो अक्साई चिन को लेकर है जो सदियों से लद्दाख का हिस्सा रहा है, अक्साई चिन 37,000 वर्ग किलोमीटर का इलाका है, जो समुद्र तट से 14,000 फुट से 22,500 फुट की ऊंचाई पर बढ़ते पहाड़ों से बना है।

स्तर पर ही ये टकराव सुलझा लिए गए।

डोकलाम में मुंह की खाने के बाद गलवान आया चीन : लेकिन पिछले कुछ अरसे में दो बड़े विवाद रहे, जिन्होंने स्थानीय झड़पों से आगे जाकर लगभग राष्ट्रीय संकट का रूप लिया। डोकलाम में राजनीतिक अवस्थिति बदलने की कोशिश में लगे चीन को लंबे गतिरोध के बाद मुंह की खानी पड़ी, क्योंकि वहां सारे तर्क और हालात उसके विरुद्ध थे। अब लद्दाख की गलवान घाटी का टकराव सामने है, जिसने ऐसा राष्ट्रीय रूप ले लिया है। यह इसलिए भी ज्यादा गंभीर हो गया कि इस टकराव में 20 भारतीय सैनिकों की जान चली गई। भारतीय सूत्रों के मुताबिक, कम से कम 45 चीनी सैनिक भी मारे गए। हालांकि, चीन ने इसको लेकर कोई आधिकारिक बयान जारी नहीं किया, कमांडरों की बातचीत में यह बात जरूर मानी कि उसके दो सीनियर अफसर मारे गए हैं।

गलवान पर सच्चाई और बयान में क्या सही है? : लेकिन गलवान घाटी में चीनी घुसपैठ की सच्चाई क्या है? प्रधानमंत्री कहते हैं कि चीन भारत की एक इंच जमीन भी नहीं ले सका। कुछ दूसरे अपुष्ट सूत्र आठ किलोमीटर तक की घुसपैठ का दावा करते हैं। कुछ सैटेलाइट तस्वीरें बताती हैं कि 1962 में चीन ने जिस इलाके पर अपना नियंत्रण स्वीकार किया था, वहां से 423 मीटर दक्षिण की ओर आगे आ गया है। कहा ये भी जा रहा है कि ऐसी घुसपैठ चीनी सैनिकों की आदत रही है और यहां से उन्हें पीछे धकेलना संभव नहीं है। इसके प्रमाण के तौर पर यह बताया जा रहा है- जो सही भी है- कि चीन

ने नियंत्रण रेखा के अपनी तरफ कितना साजो-सामान जुटा लिया है। कैसे-कैसे निर्माण कर लिए हैं। हालांकि, यह भी एक सच्चाई है कि भारत ने भी अपनी तरफ बुनियादी ढांचा काफी दुरुस्त कर लिया है और अब लद्दाख में मोर्चे पर तैनात सैनिकों तक रसद और साजो-सामान पहुंचाना पहले के मुकाबले काफी आसान हो गया है। अपनी इसी तैयारी के बल पर भारत याद दिलाता है कि वह 1962 वाला भारत नहीं है। मगर सच्चाई यह है कि अब चीन भी 1962 वाला चीन नहीं है- इन वर्षों में भी उसकी आर्थिक-सामरिक ताकत में खासा इजाफा हुआ है। अमेरिका को छोड़ आर्थिक मोर्चे पर कोई उसे टक्कर देने वाला नहीं है

कुछ सैटेलाइट तस्वीरों में 1962 में चीन ने जिस इलाके पर अपना नियंत्रण स्वीकार किया था, वहां से 423 मीटर दक्षिण की ओर आगे आ गया है। घुसपैठ चीनी सैनिकों की आदत रही है और यहां से उन्हें पीछे धकेलना संभव नहीं है।

और अमेरिका के अलावा रूस को छोड़ उसकी सामरिक हैसियत को भी कोई चुनौती देने वाला नहीं है।

तो भारत क्या करे? : लेकिन असली सवाल यहीं से पैदा होता है। भारत क्या करे? क्या चीन से डर कर उसके सैनिकों की घुसपैठ को नजरअंदाज कर दे? यह भारतीय संप्रभुता और स्वाभिमान के लिए शर्मिंदगी की बात होगी। दूसरी बात यह कि इससे चीन के विस्तारवादी मंसूबे और बेलगाम होंगे और वह दुनिया में अपने अधिनायकवाद को और मजबूत करने के लिए भारत को कमजोर करने के अवसर खोजता रहेगा। इस बीच यह ध्यान देना जरूरी है कि अपने वैदेशिक मोर्चे पर दुनिया भर की असहमतियां झेलते हुए भी चीन ने नेपाल और श्रीलंका से लेकर म्यांमार तक अपनी कूटनीतिक घुसपैठ इतनी मजबूत कर ली है कि वहां से भी वह भारत को परेशान करता रह सकता है। पाकिस्तान तो उसका पुराना सहयोगी है ही- और चीन के साथ मोर्चा खोलने का मतलब पाकिस्तान के साथ भी मोर्चा खोलना है।

मगर फिर हम क्या करें? या हम क्या कर रहे हैं? जहां तक भारतीय सत्ता-प्रतिष्ठान का सवाल है, उसने कई कदम एक साथ उठाए हैं। कुछ कदम सही और राष्ट्रीय मजबूरियों की देन हैं और कुछ पर बहस हो सकती है।

लद्दाख में डटे रहना जरूरी : मसलन लद्दाख में सैनिकों के साथ पूरी मजबूती के साथ खड़े होने का फैसला एकदम उचित है। क्योंकि यह मामला लद्दाख की कुछ सौ मीटर जमीन भर का नहीं है, भारतीय सेना के उस मनोबल का भी है, जिसके सहारे वह भारतीय सरहदों की सुरक्षा करती है। चीन भी यह समझता है कि लद्दाख के सामरिक संघर्ष में उसे खासा नुकसान होगा, इसलिए वह एक हद से आगे यहां जाने को तैयार नहीं होगा। बहुत संभव है कि दोनों देशों में सैन्य स्तर की बातचीत में भारतीय सैनिकों की मौजूदगी और अडिगता का दबाव भी काम करे और चीन अंततः कुछ पीछे लौट कर अप्रैल- 2020 की उस अवस्थिति तक आने को तैयार हो जाए, जहां पहले दोनों सेनाएं खड़ी थीं और अपने-अपने इलाकों में गश्त करती थीं।

प्रधानमंत्री के लद्दाख दौरे के दो संदेश : सेना का मनोबल बढ़ाने को- या चीन के मोर्चे पर अपनी मजबूती दिखाने को- 4 जुलाई को प्रधानमंत्री ने भी बिना किसी पूर्व सूचना के लद्दाख का दौरा किया। साफ तौर पर इस दौरे के दो संदेश थे। एक तो अंदरूनी राजनीति और जीवन के लिए था- कि भारत सरकार का मुखिया लद्दाख तक जाकर चीन को चेतावनी दे सकता है। भले ही वह टकराव की जमीन से 250 किलोमीटर दूर खड़ा हो और भले ही उसने अपने भाषण में चीन का नाम न लिया हो। लेकिन यह साफ है कि भारत इसे हल्के से नहीं ले सकता। दूसरा संदेश चीन के लिए था कि भारत इस मामले को बिल्कुल शीर्ष स्तर पर उठाने को तैयार है। प्रधानमंत्री के लद्दाख दौरे के बाद चीन ने संयत लहजे में कहा कि दोनों देशों को ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए जिससे माहौल बिगड़े।

तीसरा काम भारत ने यह किया कि इसी दौरान उसने रूस से 38,900 करोड़ की रक्षा खरीद के फैसले को मंजूरी दी और उसे अमल में लाना शुरू किया। यह हथियार जुटाने का मसला भर नहीं है, अपने पुराने भरोसेमंद मित्र रूस का समर्थन हासिल करने की कवायद भी है।

आदर्शवाद नहीं यथार्थवादी पहलू देखना जरूरी : अब सवाल पूछा जा सकता है कि क्या प्रधानमंत्री ने लद्दाख जाकर हालात को कुछ और तनावपूर्ण नहीं बना दिया? या हथियारों की ख़रीद यहां फिर एक गैरजरूरी होड़ को जन्म नहीं देगी? इन सवालों के किन्हीं आदर्शवादी जवाबों की उम्मीद नहीं की जानी चाहिए। लेकिन इसका यथार्थवादी पहलू भी अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए। भारत में अचानक जो चीन-विरोधी माहौल बना है, उसे चीन ने भी बढ़ाना शुरू किया तो? क्या दोनों देश नए सिरे से एक-दूसरे के साथ टकराव में आ खड़े होंगे? अगर ऐसी नौबत आ ही गई तो नुकसान में कौन रहेगा?

इसका भी कोई सीधा हिसाब तत्काल लगाना मुश्किल है। लेकिन इसमें शक नहीं कि युद्ध या टकराव किसी एक पक्ष का नुकसान नहीं करते। उनकी वजह से देश, समाज, घर सब बिखर जाते हैं। उनकी कीमत लोग बरसों चुकाते रहते हैं।

आर्थिक बहिष्कार से भारत अधिक घाटे में रहेगा : भारत और चीन के मौजूदा टकराव में इस बात को याद रखा जाना जरूरी है। इस टकराव का एक चिंताजनक पहलू यह है कि यह सिर्फ सरहद तक सिमटा हुआ नहीं है, बल्कि चीन से नफरत की एक मानसिकता जैसे हिंदुस्तान में घर करती जा रही है। इसका एक सिरा चीन के आर्थिक बहिष्कार की उस मुहिम से जुड़ता है, जिसमें कारोबारी समझ कम, राष्ट्रवादी भावुकता ज्यादा है। इसमें संदेह नहीं कि 60 के दशक से ही चीन की नीतियों और नीयत पर हमारे बौद्धिकों ने बहुत सख्त और सही सवाल

उठाए हैं। इसमें भी कोई बुराई नहीं कि भारत आत्मनिर्भर होने की कोशिश करे और चीन सहित किसी भी दूसरे देश से अपना व्यापार घाटा कम करे। जहां तक चीन का सवाल है, चीन ने पिछले साल भारत को 5.11 लाख करोड़ का निर्यात किया, जबकि भारत ने चीन को 1.24 लाख करोड़ का निर्यात किया। यानी भारत और चीन के बीच व्यापार घाटा भारत के लिए 3.84 लाख करोड़ रुपये का है। लेकिन क्या इस घाटे की पूर्ति इस बात से की जा सकती है कि हम चीन से आयात रोक दें? क्या चीन से हम किसी शौक से सामान मंगाते हैं? चीन से सामान मंगाना हमारी जरूरत है क्योंकि हमें वहां से सामान सस्ता मिलता है। उसके बूते हमारा बहुत सा कारोबार चलता है। भारत में मोबाइल हैंडसेट का जो कारोबार है, उसमें 75 फीसदी हिस्सा चीन का है, स्मार्टफोन के धंधे में 45 फीसदी कारोबार चीनी कंपनियों के हाथों में है। कई लघु और मझोले उद्योगों को कच्चे माल की आपूर्ति चीन से होती है और कई स्टार्ट अप्स में चीन का पैसा लगा है।

बहिष्कार से भारतीय कारोबारियों पर संकट : ये सारे तथ्य यह तर्क देने के लिए नहीं दिए जा रहे कि हम चीन पर बुरी तरह निर्भर हैं और उसके बिना हमारा काम नहीं चल सकता। असली बात यह है कि जिस आत्मनिर्भर भारत की हम कल्पना करते हैं, जिस स्वदेशी उद्यम की बात करते हैं, उसके लिए ठोस और दूरगामी प्रयत्न करने होंगे। बहुत जज्बाती ढंग से फैसले करके हम अंततः अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारेंगे। अभी ही बहुत सारी कंपनियां इस बात का रोना रो रही हैं कि चीन से उन्होंने जो सामान मंगाया है, वह कस्टम में अटका पड़ा है और घाटा उन्हें उठाना पड़ रहा है। बहुत सारे दुकानदार चीनी कंपनियों को पैसे देकर सामान मंगा चुके हैं और अब पा रहे हैं कि चीनी सामान के बहिष्कार का नुकसान चीन को नहीं, उन्हें उठाना पड़ रहा है।

आखिरी बात- भारत और चीन की अर्थव्यवस्था के आकार में फिलहाल बहुत बड़ा अंतर है। चीन अभी ही 14 ट्रिलियन (140 खरब) डॉलर की अर्थव्यवस्था है, जबकि भारत 3 ट्रिलियन (30 खरब) तक पहुंचने के लिए संघर्ष कर रहा है। किसी युद्ध या टकराव की स्थिति में अगर दोनों को बराबर चोट भी पड़ी तो चीन के लिए यह झटका झेलना भारत के मुकाबले आसान होगा।

अधिक उत्साह या सतर्कता घातक होगी : तो लब्बोलुबाब यह कि चीन के साथ ताजा टकराव को टालते हुए हम न अतिरिक्त उत्साही हो जाएं और न ही अतिरिक्त सतर्क। 1962 का भूत अब दोनों देशों के सिर से उतर जाना चाहिए। चीन को भी यह समझना होगा कि 21वीं सदी की दुनिया टकरावों से नहीं, साझेपन से बनेगी। इस काम में चीन पर दबाव बनाने का एक जरिया यह हो सकता है कि हम अपने पड़ोसी देशों से संपर्क बेहतर करें और वहां भी चीन की आर्थिक घुसपैठ को रोकें। दरअसल मौजूदा दुनिया में न चीन की अनदेखी संभव है और न भारत की। दोनों का टकराव तीसरे को ही फायदा पहुंचा सकता है। यह तीसरा- यानी अमेरिका- इन तमाम वर्षों में ऐसे टकराव को अपने हित में साधता रहा है। बरसों तक चीन उसका दोस्त रहा, एशिया में उसका चौकीदार बना रहा, लेकिन जब चीन ने अपनी एक हैसियत बना ली तो अब अमेरिका इस कोशिश में है कि वह भारत को चीन के खिलाफ खड़ा कर सके। हाल ही में अमेरिकी विदेशमंत्री माइक पोम्पियो ने घोषणा भी की कि वे यूरोप से अपने कुछ सैनिक हटा कर एशिया में तैनात करेंगे, ताकि चीन को जरूरत पड़ने पर रोका जा सके।

अविश्वसनीय अमेरिका से सावधानी जरूरी : ऐसी अमेरिकी मदद का प्रलोभन खतरनाक है। अमेरिका कभी किसी का भरोसेमंद दोस्त नहीं बन पाया। ईरान-पाकिस्तान- इराक- अफगानिस्तान सब इसके उदाहरण हैं। उसने दुनिया की समस्याएं दूर नहीं कीं, बल्कि बढ़ाईं। वह भारत का इस्तेमाल कर कब चीन की ओर मुड़ जाए, कहना मुश्किल है। बल्कि चीन और अमेरिका के कारोबारी रिश्ते अब बिल्कुल दूध-पानी की तरह मिले हुए हैं, जिसे अलगाना तत्काल असंभव है।

इसलिए प्रधानमंत्री आत्मनिर्भरता का जो भी अर्थ देते रहे हों, उसका वास्तविक अर्थ भारत के संदर्भ में यही हो सकता है कि वह अपनी नीति तय करे। अपने आर्थिक और स्वावलंबी विकास का खाका तय करे और उसके बाद उस पर ठोस ढंग से अमल करे।

मौजूदा सांप्रदायिक सत्ता प्रतिष्ठान से उम्मीद बेकार : लेकिन यह काम होता नहीं दिखता। मौजूदा सत्ता प्रतिष्ठान ने भारत के सामाजिक जीवन और सांप्रदायिक सद्भाव को बिल्कुल तार-तार कर डाला है। समाज में जैसे जहर घोल दिया गया है। सरकार इस महामारी में भी चुन-चुन कर अल्पसंख्यकों, दलितों और उनसे सहानुभूति रखने वाले लोगों के खिलाफ कार्रवाई कर रही है। देश का एक बड़ा हिस्सा असुरक्षा और

भारत और चीन के मौजूदा टकराव में इस बात को याद रखा जाना जरूरी है। इसमें चिंताजनक पहलू यह है कि यह सिर्फ सरहद तक सिमटा हुआ नहीं है, बल्कि चीन से नफरत की एक मानसिकता जैसे हिंदुस्तान में घर करती जा रही है।

अविश्वास में जी रहा है। ऐसी स्थिति में देश के विकास की कल्पना कैसे की जा सकती है? आंकड़ों में जो विकास होगा, वह अमीरों को और अमीर बनाने वाला विकास होगा। ध्यान से देखें तो आज चीन के बहिष्कार की खुली मुहिम वही चला रहे हैं जो कल तक अल्पसंख्यकों के बहिष्कार की छुपी मुहिम चला रहे थे। ऐसे विघटनकारी तत्वों के रहते देश तरक्की नहीं करते और न ही आत्मनिर्भर हो सकते हैं। जब हम इस अंदरूनी कमजोरी से उबरेंगे तो चीन क्या, अमेरिका से भी निबट लेंगे। उसके पहले उनके सामान और कारोबार के बहिष्कार की भावुकता भरी मुहिम नेताओं को फायदा पहुंचाएगी, आम लोगों को नहीं। ■

तिब्बत, चीन और हिन्दुस्तान

राममनोहर लोहिया

अब तिब्बत। तिब्बत की बात तो कई बार मैं दोहरा चुका हूं। उसे खाली गिना देता हूं। एक भाषा, दूसरे लिपि, तीसरे रहन-सहन, चौथे धर्म, पांचवे जमीन का ढलाव, छठे इतिहास, सातवें लोक इच्छा। इन सातों कसौटियों पर तिब्बत चीन का हिस्सा हरगिज नहीं है। चीन से ज्यादा हिन्दुस्तान के नजदीक हैं, मैं हिस्से की बात नहीं कह रहा हूं। मैं यह नहीं कहना चाहता कि तिब्बत हिन्दुस्तान का अंग है, लेकिन तिब्बत का और हिन्दुस्तान का बिल्कुल नजदीकी संबंध है। अगर मोटी, बाजारू भाषा में मुझे कहना पड़े तो तिब्बत तिब्बत है, स्वतंत्र है, उसका अपना ढंग है, उसके लोगों की स्वतंत्र रहने की इच्छा है, वही सबसे बड़ा सत्य है, क्योंकि मैं यह कहना चाहता हूं, चाहे जितने सत्य किसी तरफ जा रहे हों लेकिन अगर किसी बड़े इलाके के लोग चाहते हैं कि वे स्वतंत्र रहें तब वही बात सबसे बड़ी हुआ करती है। तिब्बत के लोग स्वतंत्र रहना चाहते हैं। उनका इलाका कोई पांच लाख वर्गमील का है। उनकी आबादी 40-50 लाख की है। वह कोई छोटा-मोटा इलाका तो है नहीं। रहन-सहन का उनका ढंग रहा है। उनका अपना इतिहास है। स्वतंत्र रहना चाहते हैं; उनको स्वतंत्र रहना चाहिए। लेकिन उसके बाद दूसरे नम्बर का सवाल उठता है कि तिब्बती किसके ज्यादा नजदीक है। अस्सी सैकड़ा वे हिन्दुस्तानियों के नजदीक हैं तो मुश्किल से 15-20 सैकड़ा वे चीनियों के नजदीक होंगे। इससे ज्यादा उनका चीन से कोई ताल्लुक है नहीं।

दस्तावेज

मुश्किल यह है कि पिछले हजार बरसों में जो कुछ घटनाएं हुई है ये कौन सी? जब तक इतिहास पर एक लम्बवान की दृष्टि से सोच-विचार नहीं करेंगे बड़ी चीज को पकड़ नहीं पाएंगे। पिछले हजार बरसों में हिन्दुस्तान गिरा हुआ रहा, पिटा हुआ रहा है, गुलाम रहा है, कमजोर रहा है।... क्या इनके सबब रहे, उसे छोड़ दीजिए। हम यह मानकर चलें कि पिछले हजार बरस में हिन्दुस्तान नपुंसक रहा है और परदेशी अपनी ताकत में इस मुल्क को गुलाम बनाता रहा है। बाबर आता है परदेशी की शक्ल में तो फतह करता है मुल्क को, और तैमूरलंग का तो कहना ही क्या! और जब बाबर की औलाद बहादुर शाह की शक्ल में देशी बन जाती है, तो शायरी करने के सिवाय उसके पास और कुछ नहीं रह जाता। देशी और परदेशी की यह लड़ाई रही और इस हजार बरस में जो कुछ भी हिमालय के ऊपर राजकीय अधिकार उसको नजीर या उदाहरण बनाकर यह कहना कि यह हिमालय की शक्ल है। निहायत गंदी बात होगी। पिछले हजार बरस को ही क्यों देखा जाए? क्यों न पिछले दो-तीन हजार बरस को देखा जाए, चार हजार बरस को देखा जाए? आखिर पिछले हजार बरस में चंगेज खाँ और कुबलाई खाँ भी तो हुए हैं उसके अलावा चीनी राजाओं की कभी ताकत रही, वे आगे बढ़े, हमारे हिमालय की तरफ भी किसी-किसी जमाने में आए, और हम हिन्दुस्तानी पिछले हजार बरस में कभी भी अपने मुल्क के बाहर की बात सोचने के लायक थे ही हीं। मुल्क के अंदर की बातों में ही इतना फंसे रहते थे कि हमेशा हमको गुलामी से बचने के लिए तैयार रहना पड़ता था, लड़ाई करनी पड़ती थी। यह रही हिन्दुस्तान की हालत। हमेशा बार-बार मैं अर्ज करूंगा कि पिछले हजार बरस के इतिहास और सुलहनामों को कोई भी हिन्दुस्तानी कभी उदाहरण के रूप में न ले। यह बड़ी भारी गलती होगी, अगर वह लेगा।

तिब्बत और चीन के मामलों में जितने भी सुलहनामे हैं, उनसे एक बात तो यह साबित होती है कि चाहे 10-15-20 बरस के लिए ही सही क्यों न हो, तिब्बत ने चीन के ऊपर राज किया। अगर सुलहनामों को ही आप आधार बनाना चाहते हों तो क्यों न चीन को तिब्बत के मातहत बना दिया जाए? दूसरे, यह बात साबित होगी कि जो कोई सुलहनामे मिलते भी हैं तिब्बत और चीन के संबंध बताने वाले तो वे सिर्फ इतना बताते हैं कि तिब्बत का राजा चीन को किसी प्रकार की भेंट दिया करता था। उसे सत्ता नहीं, एक तरह का दूर का आधिपत्य कहा जा सकता है। अंदरुनी मामलों में कोई मतलब रहता नहीं था तिब्बत के राज से, उस वक्त भी जब चीन की ताकत ज्यादा होती थी। अंदरुनी मामलों में बिल्कुल नहीं, विदेशी मामलों में भी नहीं, क्योंकि तिब्बत ने जाने कितनी संधियां की हैं दूसरे देशों से, बिना चीन के रहते हुए, या चीन जिसमें दखल नहीं देता था।

आर्थिक विकास से बड़ा है सांस्कृतिक जुड़ाव

कश्मीर उप्पल

नेपाल में लगभग 2000 वर्षों तक सामंती-राजतंत्र रहा है। भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के प्रभाव से नेपाल में भी 1930 के दशक से निरंकुश-राजतंत्र से आजादी का आंदोलन शुरू हुआ और 1951 में निरंकुश राणाशाही का खात्मा हो गया।

नेपाल में सामंती शासन के विरुद्ध आंदोलन के समय से ही भारत के कई राजनीतिक दलों और समाजवादी वामपंथी बुद्धिजीवियों का नेपाल के आंदोलनकारियों को भरपूर समर्थन मिलता रहा है। इसी तरह भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध स्वतंत्रता आंदोलन में नेपाल के लोगों का समर्थन और सहयोग महत्वपूर्ण रहा है। भारत के कई बड़े नेता गिरफ्तारी से बचने और 1942 के 'भारत छोड़ो आंदोलन' के दौरान आंदोलन का नेतृत्व करने के लिए नेपाल में शरण लेते थे। वहीं से वह भारत के स्वतंत्रता आंदोलन का नेतृत्व भी करते थे।

भारत की स्वतंत्रता के बाद सन् 1951 में दिल्ली में नेपाल के राजा, नेपाली कांग्रेस और राणाशाही के बीच एक समझौता हुआ था। इसके फलस्वरूप नेपाल में संसदीय-बहुदलीय प्रजातांत्रिक व्यवस्था की शुरुआत हुई थी। यह समझौता 'दिल्ली समझौता' कहलाता है जिसमें 10 सूत्र थे। इस समझौते की कुछ धाराओं का नेपाल में विरोध होता रहा है। इस समझौते की एक धारा के अनुसार नेपाल अपने देश की आवश्यकताओं के लिए भारत से ही हथियार खरीद सकता है और अन्य देशों से हथियार खरीदने के लिए भारत की सहमति आवश्यक होगी।

इस दिल्ली समझौते द्वारा स्वीकृत संविधान के अधीन नेपाल में संसदीय चुनाव हुए, जिसमें 109 सीटों की प्रतिनिधि सभा में नेपाली कांग्रेस को 88 सीटें अर्थात दो-तिहाई बहुमत मिला। इस प्रकार बीपी कोइराला नेपाल के प्रथम प्रधानमंत्री बने। श्री कोइराला का भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वे इस संबंध में भारत की जेलों में भी बंद रहे थे।

नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी और नेपाल कांग्रेस के कुछ नेता 1951 के दिल्ली समझौते के विरुद्ध रहे हैं। वे इस समझौते को 'राजा की सत्ता' को सुरक्षित रखने का समझौता कहते हैं। इसीलिए नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी ने 'संवैधानिक राजशाही' के विरुद्ध अपना जनसंघर्ष जारी रखा। नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) ने भारत द्वारा नेपाल को दी जाने वाली हर सहायता और विकास एवं निर्माण कार्यों का भी विरोध करना शुरू कर दिया। वे इसे भारत के हित में नेपाल का शोषण सिद्ध करती रही हैं। इसमें वे विशेषकर नेपाल की नदियों पर बनाये गये बांधों का उल्लेख करती रही है।

नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) ने 1996 में राजशाही के विरुद्ध एक 'जनयुद्ध' की घोषणा कर दी थी जिसके फलस्वरूप सैकड़ों नेपाली सैनिक, पुलिस, कर्मचारी और नागरिकों की हत्या होती रही। भारतीय माओवादियों से मिलकर नेपाल का यह जनयुद्ध कई वर्षों तक चलता रहा। भारत और नेपाल में इस जनयुद्ध को लेकर कई वैचारिक भिन्नताएं और समानताएं भी रही है। भारत और नेपाल के सभी माओवादी गुट मिलकर उत्तरी आंध्र प्रदेश से लेकर पूर्वी और मध्य भारत से नेपाल तक एक 'मजबूत क्रांतिकारी गलियारा' (रेड कॉरिडोर) बनाने का स्वप्न देखते रहे हैं। नेपाल के माओवादी 'पीपुल्स वार ग्रुप' का आंध्र, तेलंगाना, बिहार, मध्य प्रदेश और बंगाल के 'कामतापुर लिबरेशन आर्गेनाइजेशन' से गहरा संबंध रहा है। ये सभी गुट मिल-जुलकर भी कई कार्यवाहियां नेपाल और भारत में करते रहे हैं।

सन् 2006 में भारत के सहयोग से एक समझौते के द्वारा नेपाली कम्युनिस्ट पार्टी सत्ता में पहुंची थी, लेकिन इस पार्टी के कुछ धड़ों पर अब चीन का अधिक प्रभाव है। वे अपने देश को भारत की जगह चीन के ज्यादा करीब देखते हैं। इसीलिए आजकल चीनी राजदूत हाउ यांकी की नेपाल के बड़े राष्ट्रीय नेताओं से मुलाकातों के समाचार निरंतर आ रहे हैं। नेपाल के सत्ताधारी दल नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी के भीतरी सत्ता संघर्ष के मध्य चीनी राजदूत की नेपाल के शीर्ष नेताओं से मुलाकातें पूरे विश्व में उत्सुकता से देखी जा रही हैं।

नेपाल के भारत के साथ उत्पन्न लिपुलेख, कालापानी और लिपियाधुरा पर विवादास्पद बयान के बाद वहां के प्रधानमंत्री केपी शर्मा ओली ने संसद में भारत पर यह आरोप भी लगा दिया है कि कुछ लोग भारत की मदद से नेपाल की उनकी सरकार को गिराने की कोशिशें कर रहे हैं। इस घटनाक्रम पर प्रसिद्ध राजनीतिक-विश्लेषक कनक दीक्षित ने अपने एक ट्वीट में कहा है- 'क्या स्थिति हैः अगर सीपीएन टूट जाती है तो भारत कसूरवार ठहराया जाएगा। अगर पार्टी इकट्ठा रहती है तो इसका श्रेय चीन को मिलेगा।'

भारत और नेपाल के बौद्धिक वर्ग का मानना है कि इस समय नेपाल और भारत की धार्मिक और सांस्कृतिक धारा ही है, जो भारत और नेपाल को एकसूत्र में बांधकर रख सकती है। यह प्रश्न राजनीति और आर्थिक विकास से भी बड़ा है।

नेपाल को लेकर यह पूछा जा रहा है कि कोई देश अपनी अस्मिता को खोकर कैसे खड़ा रह सकता है? नेपाल अपनी प्राचीन धार्मिक और सांस्कृतिक सभ्यता के साथ चीन से कैसे समन्वय बिठा पाएगा। इस कोरोना काल में पूरे विश्व ने चीनी सभ्यता का जो चेहरा देखा है, वह नेपाली सभ्यता के विपरीत दिखलाई देता है। वर्तमान में अमेरिका के आर्थिक विकास का असली चेहरा भी यही संदेश दे रहा है कि आर्थिक विकास से ऊपर महत्वपूर्ण मनुष्य से मनुष्य के संबंध है। सोवियत संघ और युगोस्लाविया जैसे देशों का विघटन यह सिद्ध करता है कि धार्मिक और सांस्कृतिक अस्मिता का सवाल आर्थिक विकास से बहुत बड़ा होता है। ■

भारत-नेपाल रिश्तों में दरार क्यों

अतुल कुमार

भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक रूप से सबसे निकट के पड़ोसी नेपाल से संबंध इन दिनों काफी तनाव से गुजर रहे हैं। यह भारत का इतना निकट पड़ोसी कि केवल इसके साथ ही भारतीय नागरिकों का बिना वीजा पासपोर्ट का आवागमन चलता है। लेकिन दूसरी ओर देखें तो दोनों देशों के सत्ता प्रतिष्ठानों के बीच संभवतः इतना तनाव ज्ञात इतिहास में कभी नहीं रहा है। नेपाली प्रधानमंत्री केपी शर्मा ओली की जिद पर नेपाली संसद से नया नक्शा पारित कराने के बाद यह तनाव और चिंता के स्तर पर जा पहुंचा है। इस नक्शे में वर्तमान में भारतीय क्षेत्रों- लीपुलेख, और कालापानी को नेपाल में शामिल कर लिया है। स्थिति यहां तक आ पहुंची है कि भारत सरकार से तनाव हुए भी तो राणाओं के साथ जो राजशाही को बंधक बनाकर रखना चाहते थे। इससे पहले अंग्रेजों से नेपाल का युद्ध जरूर हुआ था। यही नहीं भारत पर आरोप लगाने और भारत से संबंध खराब करने से खिन्न नेपाल के अंदर भी प्रधानमंत्री का विरोध उनकी अपनी ही पार्टी में शुरू हो गया है और पूर्व राष्ट्रपति रह चुके माओवादी नेता पुष्प कमल दहल प्रचंड तक ने उनसे इस्तीफे की मांग कर दी है। वह तो चीन का हस्तक्षेप है जो अब तक ओली अपने पद पर बने हुए हैं, अन्यथा उनकी विदाई तय थी।
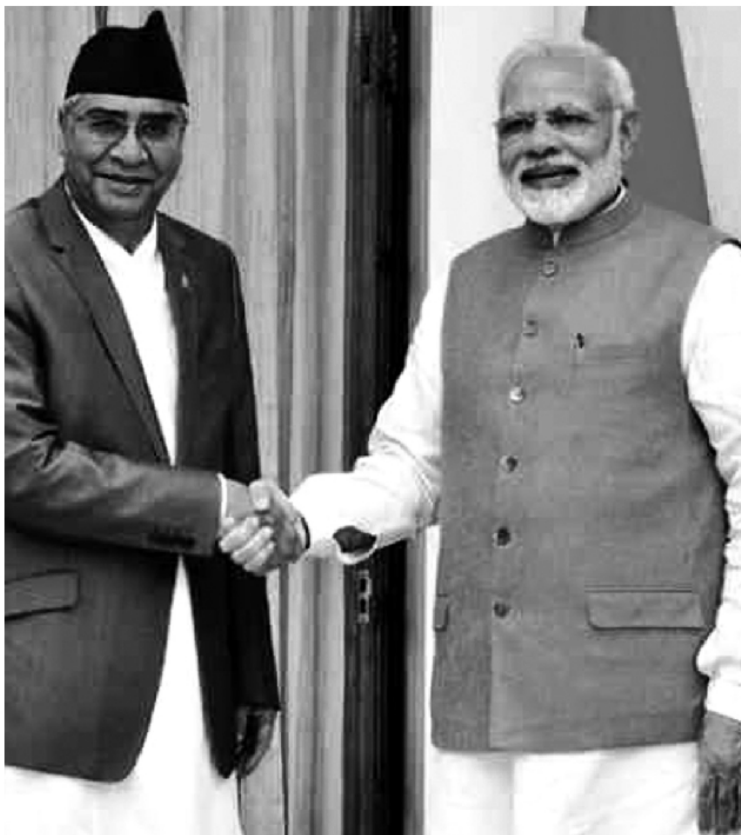
नेपाल के प्रधानमंत्री खड्ग प्रसाद शर्मा ओली ने संविधान संशोधन के द्वारा काला पानी, लिम्पियाधुरा और लिपुलेख को नेपाल का हिस्सा घोषित करके भारत और नेपाल के संबंधों को लंबे समय के लिए तनावग्रस्त कर दिया है।

वर्तमान के तनाव के पीछे अनवरत चला आ रहा सीमा विवाद है। लेकिन इसके इसी समय उभरकर सामने आने के पीछे नेपाल की आंतरिक राजनीति और उसे चीन की ओर से मिल रहे शह के कारण ज्यादा है। अन्यथा ये विषय ऐसे नहीं हैं जिनका समाधान तत्काल नहीं हुआ तो नेपाली अस्मिता पर संकट आ जाएगा या बहुत बुरा हो जाएगा।

वर्तमान का विवाद भारत के उत्तराखंड के धारचूला से भारत द्वारा राजमार्ग निर्माण से शुरू हुआ, जो उस लीपुलेख तक जाता है जिसे नेपाल अपना बता रहा है। साथ ही कालापानी नामक स्थान पर भारतीय सैन्य अड्डा होने पर भी नेपाल को ऐतराज है। नेपाल कालापानी और लीपुलेख को अपना क्षेत्र बताता रहा है, जो फिलहाल भारत का

क्षेत्र है। ये तीनों क्षेत्र उत्तराखंड सीमा पर हैं। लीपुलेख और कालापानी काली नदी के पूरब में है और नेपाल 1816 के सुगौली संधि के तहत इसे अपना क्षेत्र मान रहा है। लेकिन नेपाल के पास इस बात के कोई दस्तावेजी प्रमाण नहीं हैं कि आखिर कालापानी में भारतीय सैन्य अड्डा कब से है और किसने कब भारत को यह इलाका सौंपा। न ही नेपाल के पास इस बात की कोई जानकारी है कि कालापानी में कैसे भारतीय सैन्य चौकी बन गई। अनुमान के आधार पर नेपाल के विशेषज्ञ इसे 1962 की भारत-चीन की लड़ाई के बाद पीछे हट रही भारतीय सेना द्वारा इसे अनुकूल स्थान देखकर जम जाने का जिक्र करते हैं। कुछ नेपाली विशेषज्ञ यहां तक अनुमान लगाते हैं कि जब 1952 में नेपाली सैनिकों को प्रशिक्षण देने के लिए राजा त्रिभुवन के अनुरोध पर भारतीय सेना नेपाल गई तो वह एक साल की बजाय 1969 तक वहां जमी रही। जब नेपाल में सरकार और विपक्ष में इसका घोर विरोध होने लगा तो नेपाल के तत्कालीन प्रधानमंत्री कीर्तिनिध बिष्ट ने राजा को मनाकर भारतीय सेना को काठमांडू से वापस भेज दिया था। इसके बाद भारत इससे नाराज हुआ। हालांकि नेपाली विशेषज्ञ यहां भी यह अनुमान ही लगाते हैं कि तिब्बत सीमा पर बनाए गए 18 चेक पोस्टों को खाली करते समय भारतीय सेना ने कालापानी को खाली नहीं किया, उस सूची में कालापानी का नाम नहीं था। नेपाल के कुछ अखबार और कई जानकार पत्रकार यह भी बताते हैं कि राजा महेंद्र ने कालापानी का इलाका भारत को सौंपा था, हालांकि इसका भी कोई प्रमाण नहीं है।

सवाल यह उठता है कि ऐसा क्यों हुआ कि नेपाल को अपने क्षेत्र के बारे में ही जानकारी नहीं है। इसका सीधा सा उत्तर है कि नेपाल के सुदूरवर्ती पश्चिम में स्थित ये इलाके इतने बीहड़ में थे कि नेपाल की निरंकुश राजशाही और राणाशाही का ध्यान इस ओर कभी गया ही नहीं। चीन के हमले के कारण भारत का ध्यान हमेशा इस इलाके पर रहा है। यह इलाका ऊंचाई पर होने के कारण चीनी सैनिकों का मुकाबला करने और उन पर नजर रखने के लिए बेहतर स्थान है। कालापानी से भारत को हटाने का अभियान नेपाल में असल में 1990 के लोकतंत्र समर्थक आंदोलन के साथ शुरू हुआ है।

1990 से पहले नेपाल की जनता अपने देश और शासन के प्रति उदासीन ही रहती आई थी। आंदोलन शुरू होने के बाद उनमें जागरूकता आई और उन्होंने अपने देश की सीमाओं को पहचानना शुरू किया। इसी के बाद उनमें इन क्षेत्रों को लेकर चेतना जगी ओर इसे वे अपना क्षेत्र बताने लगे। हालांकि लोकतंत्र स्थापित होने के बाद भी नेपाल की राजनीतिक पार्टियों, जिनमें मुख्य नेपाली कांग्रेस ही रही है, पर भारत की छाया रही है। नेपाल में सरकारों पर भी भारत का प्रभाव लगातार रहा है। यह भी कारण हो सकता है कि उस समय ये मुद्दे न उठे हों। कहा तो यह भी जाता है कि राजा महेंद्र के समक्ष कालापानी का मुद्दा उठा था, लेकिन नेपाल की कठिन परिस्थिति और भारत से दोस्ती बनाए रखने के लिए राजा महेंद्र ने उस समय इसे उठाना ठीक नहीं समझा। वह तब का समय है जब चीन में कम्युनिस्टों ने सत्ता पर अधिकार किया था और कम्युनिज्म का भय भारत और नेपाल दोनों को एक साथ सता रहा था।

पिछले साल भारत ने जम्मू-कश्मीर को दो हिस्सों में बांटते हुए दो संघ शासित क्षेत्र बना दिया। इसके बाद जो नक्शा भारत ने जारी किया, उसमें लीपुलेख और कालापानी को अपना क्षेत्र दिखाया। अभी का सारा विवाद इसी नक्शे और ऊपर बताए राजमार्ग के कारण उत्पन्न हुआ है। इसी के कारण नेपाल को यह मुद्दा उठाने का मौका मिल गया और चीन-भारत विवाद को बढ़ते देख नेपाल के चीन समर्थक प्रधानमंत्री ने इसे लपक लिया है।

अब इसका समाधान क्या हो सकता है? क्या भारत को नेपाल से अपने संबंध को खराब होने देना चाहिए। इस निकट पड़ोसी से भारतीय राज्यों का रोटी-बेटी का संबंध भी जुड़ा हुआ है। साथ ही बड़ी संख्या में भारतीय मूल के लोग नेपाल के नागरिक हैं, जिन्हें मधेशी कहा जाता है। अगर नेपाल से भारत का सनातन संबंध टूटा तो चीन नेपाल पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की पूरी कोशिश करेगा। यह स्थिति भारत के लिए सामरिक, सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से बहुत ही नुकसानदेह होगा। भारत सरकार को चाहिए कि वह नेपाल की राजनीति में सक्रिय भारत के सहयोगी और और इससे वैमनस्य न रखने वाले तत्वों की मदद ले और ऐसे भारतीय समूहों को भी विश्वास में लेकर नेपाल की पूरी राजनीतिक बिरादरी से

भारत-नेपाल में बातचीत की सार्थकता अब नहीं रही? ओली ने अपनी अदूरदर्शिता से सीमा विवाद के निपटारे को असंभव बना दिया है। इस अनावश्यक विवाद के रहते दोनों देशों के बीच संबंध सामान्य होने में काफी समय लगने वाला है।

बातचीत कर सद्भाव का माहौल तैयार करे। जहां तक कालापानी का सवाल है, इसे इतिहास के दस्तावेजों में ठीक ढंग से खोजा जाए और दोनों देशों में राजनयिक स्तर पर इस मुद्दे को सुलझाया जाए। ऐसा होने पर ही नेपाल में भारत के प्रति सद्भाव का माहौल बनेगा और इस आधार पर वहां भारत से मित्रता रखने वाले दलों को सत्ता में आने का मौका मिल सकता है। लेकिन यह काम वैमनस्य, चालाकी या खुद को श्रेष्ठ मानकर नहीं हो सकता है बल्कि नेपाली समाज और समूहों से बराबरी के स्तर पर संपर्क को मजबूत किया जाना चाहिए। साथ ही भारत सरकार को चाहिए कि वह अपने यहां नेपाल के खिलाफ अनाप-शनाप आग उगल रहे चैनलों पर लगाम लगाए। तभी वहां चीन समर्थक समूह सत्ता से हट सकते हैं। और तभी भारत के साथ संबंध सामान्य बहाल हो सकते हैं। ■

कोविड-19 : कुछ सबक, कुछ सवाल

कोविड-19 को 'परास्त' करने की आपाधापी में कई तरह की गफलतें हो रही है और ऐसे में सरकारें अपनी-अपनी 'पीठ ठुकवाने' में मशगूल है। कहा जा रहा है कि महामारी मानी जाने वाली इस बला से हम अव्वल और बेहतर तरीकों से निपटे, निपट रहे है। तो क्या सचमुच हम इस नामुराद बीमारी को काबू कर पाएंगे? प्रस्तुस्त है, इस विषय की गहरी छानबीन करता लेख।

नरेन्द्र चौधरी

कोरोना वायरस से उत्पन्न महामारी कोविड-19 से लड़ने के लिए प्रधानमंत्री ने 24 मार्च को 21 दिन के लॉकडाउन की घोषणा की थी। उन्होंने कहा था कि 'महाभारत का युद्ध 18 दिन में जीता गया था, हम कोरोना के खिलाफ जंग 21 दिन में जीतेंगे।' उसके बाद तीन बार, क्रमशः 19, 14 और 12 दिनों के लिए लॉकडाउन बढ़ाया गया। इससे कोविड-19 के प्रसार की दर भले धीमी हुई हो, लेकिन कोरोना से संक्रमित लोगों के मामले निरंतर बढ़ते जा रहे हैं। अब तो ये प्रतिदिन इतने (लगभग 19,000) बढ़ रहे हैं कि धीमी गति अर्थहीन हो गई है। जहां स्पेन, इटली, जर्मनी और इंग्लैंड आदि में लॉकडाउन समाप्त होने पर कोरोना के केस कम होने लगे हैं, वहीं भारत में इनमें तेजी से इजाफा हुआ है। पहले लॉकडाउन की घोषणा के दिन जहां कोविड-19 संक्रमितों के लगभग 500 मामले थे, वहीं आज यह संख्या पौने छह लाख पार कर चुकी है।

वैसे भी लॉकडाउन से बीमारी के फैलने की गति धीमी भर की जा सकती है, इसे रोका नहीं जा सकता। इसका यह फायदा जरूर हुआ है कि 'नमस्ते ट्रम्प' में व्यस्त हमारे देश को टेस्टिंग किट, 'पर्सनल प्रोटेक्शन इक्विपमेंट' (पीपीई) किट, मास्क वेंटिलेटर और अस्पतालों में कोविड-19 के पृथक वार्ड बनाने का समय मिल गया। हालांकि आधी-अधूरी तैयारी से लगे इस लॉकडाउन से मजदूरों को अभूतपूर्व, असहनीय तकलीफों से गुजरना पड़ा, लोगों को रोजगार से हाथ धोना पड़ा, एक बड़ी जनसंख्या आर्थिक परेशानी में पड़ गई और मजदूरों की घर वापसी के कुप्रबंधन से न सिर्फ मजदूरों ने गहन पीड़ा भोगी, वरन् इस अफरा-तफरी में उनमें से अनेक कोविड-19 से संक्रमित भी हो गए। अपने गृह-नगर या गांव पहुंचकर वे इस संक्रमण को अन्य लोगों में भी फैला सकते हैं। अब हम सब इस बात में एकमत हैं कि कोविड-19 की बीमारी जल्दी नहीं जाने वाली। 'नारायण हेल्थ' के डॉ. देवी शेट्टी के अनुसार एक-दो साल तक भारत में कभी-न-कभी बड़ी संख्या में लोग संक्रमित होते रहेंगे। उनके मुताबिक समय के साथ-साथ कोरोना वायरस भी स्वतः कमजोर व कम घातक होता जाएगा।

'केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय' की यह तुलना कि चूंकि हमने उचित समय पर लॉकडाउन किया था, हमारे यहां अमेरिका की तुलना में कोविड-19 से संक्रमित लोगों की संख्या व उसके कारण मरने वालों की संख्या कम है, उचित नहीं है। यह इसलिए क्योंकि अमेरिका व यूरोप में कोविड-19 बीमारी का जितना व्यापक पैमाने पर प्रसार हुआ है, उतना अभी दक्षिण-एशिया के देशों, विशेषकर भारत व उसके पड़ोसी देशों में नहीं हुआ है। इसकी वजह दोनों जगह के पर्यावरण की भिन्नता, आबादी की जैव-संरचना की विशिष्टता, एशिया के देशों में 'बीसीजी' ('बैसीलस कैलमिटी गुएरिन,' क्षय-रोग से बचाव के लिए बच्चों को लगाई जाने वाली एक वैक्सीन) का लगना, भारत जैसे देश की औसत आयु का युवा होना (29 वर्ष), कम घातक स्वरूप का वायरस (हैदराबाद के 'सेंटर फॉर सेल्यूलर एंड मालीक्यूलर बॉयलॉजी' के अनुसार 41 प्रतिशत वायरस, कम घातक स्वरुप का) आदि हो सकते हैं। हालांकि यह विस्तृत अनुसंधान का विषय है।

तुलना ही करना है तो हमें चीन से करना चाहिए जहां कोरोना के जितने मामले हुए हैं, उससे अधिक मामले अकेले महाराष्ट्र में हैं। विश्व के देशों में जहां अमेरिका 26,93,736 संक्रमित व 1,29,007 मौतों के साथ शीर्ष पर है, वहीं रूस और ब्राजील के बाद भारत 5,74,926 संक्रमित व 17,038 मृत्यु के साथ चौथे स्थान पर है। यह तो तब है, जब हमने पर्याप्त टेस्टिंग नहीं की है व मृत्यु के आंकड़ों को ठीक से दर्ज नहीं किया है। चीन, जो विश्व में अब 22वें स्थान पर है, को पीछे छोड़कर भारत कोरोना संक्रमित मामलों और मृत्यु की संख्या में दक्षिण-एशिया में प्रथम पायदान पर है। पाकिस्तान 2,09,337 संक्रमित एवं 4,304 मृत्यु के साथ 12वें, बांग्लादेश 1,45,483 संक्रमित एवं 1,847 मृत्यु के साथ 17वें और श्रीलंका 2,047 संक्रमित तथा 11 मृत्यु के साथ 108 वें स्थान पर है (लेख के सारे आंकड़े 30 जून 2020 तक के हैं)। प्रति 10 लाख की जनसंख्या पर अमेरिका में 8,138 संक्रमित लोग पाए गए जबकि चीन, भारत, पाकिस्तान, बंगलादेश और श्रीलंका में क्रमशः 58,417,948, 883 व 96 संक्रमित लोग मिले। ऐसे ही कोरोना से मृत्यु के मामले में भी प्रति 10 लाख जनसंख्या पर अमेरिका में 390 मौतें हुई, वहीं एशिया के देशों चीन, भारत,

पाकिस्तान, बंगलादेश और श्रीलंका में क्रमशः सिर्फ 3, 12, 19, 11, 0.5 मौतें हुईं। जांच के मामले में हम अमेरिका तथा यूरोप के देशों से काफी पीछे हैं।

इन आंकड़ों से अमेरिका सहित यूरोप के देशों की तुलना में दक्षिण-एशिया, विशेषकर भारत व उसके पड़ोसी देशों में कोरोना के व्यवहार में अंतर स्पष्ट दिखाई देता है। दक्षिण-एशिया के देशों में चीन व श्रीलंका की स्थिति हमसे बेहतर है। पाकिस्तान में, जो आर्थिक रूप से दिवालिया स्थिति में है, भारत की तुलना में दुगने से थोड़े अधिक संक्रमित व डेढ़ गुनी मृत्यु-दर पाई गई है, पर अमेरिका की तुलना में उसकी स्थिति बहुत बेहतर है। प्रकृति के इस सहयोग से स्पष्ट है कि हमारे जैसे देशों के पास प्रबंधन के बेहतर अवसर थे।

हमारे जैसे देशों ने प्रति दस लाख की जनसंख्या पर अत्यंत अपर्याप्त जांच की है। इसका कारण टेस्ट किट की कमी, उसका मंहगा होना, सरकार की बीमारी को कम दिखाने की मंशा और भर्ती के लिए पर्याप्त सुविधाओं का अभाव आदि हैं। अपर्याप्त जांच से एक बड़ा नुकसान यह है कि ऐसे संक्रमित लोग, जिन्हें बहुत हल्के लक्षण हैं या जिनमें नहीं के बराबर लक्षण हैं, की खोज जांच के अभाव में नहीं हो पाती और वे अन्य लोगों के संपर्क में आकर उनमें बीमारी फैलाते हैं। इससे संक्रमण की श्रृंखला टूट नहीं पाती व बीमारी फैलती रहती है। गुजरात के अहमदाबाद के मामले में स्वयं गुजरात सरकार ने कोर्ट में स्वीकार किया है कि अधिक जांच से अधिक संक्रमित (70 प्रतिशत तक) निकलेंगे जिससे लोगों में भय की मानसिकता बढ़ेगी। जबकि संक्रमण की श्रृंखला को समाप्त करने के लिए जांच से बीमारों की खोज, उनका इलाज, संपर्क वालों का क्वारंटाइन, बीमारों का आइसोलेशन एवं नागरिक में जागरुकता अत्यंत आवश्यक उपाय हैं जिन्हें केरल राज्य ने किया भी है।

एक सवाल यह भी उठता है कि जो लोग अपने घर, वापस गांव जा रहे हैं, क्या वे अपने साथ संक्रमण को ग्रामीण क्षेत्रों में नहीं ले जाएंगे? ग्रामीण क्षेत्र अभी तक इस संक्रमण से लगभग मुक्त थे। बिहार के वरिष्ठ स्वास्थ्य अधिकारी गौरव सिन्हा के अनुसार दिल्ली से आये मजदूरों में से दर्जनों मजदूर कोरोना से संक्रमित पाए गए हैं। इसके अलावा गुजरात, महाराष्ट्र आदि राज्यों से आये मजदूर भी संक्रमित पाए गए हैं। बिहार के 38 में से 37 जिलों में संक्रमण फैल गया है। अकेले बिहार में एक लाख से ज्यादा मजदूर लौटे हैं। केन्द्र सरकार ने स्वयं सुप्रीम कोर्ट में कहा था कि इन मजदूरों में एक तिहाई संक्रमित हो सकते हैं। पूर्व में बिहार में दो प्रतिशत संक्रमित निकल रहे थे, अब यह दर 3.46 प्रतिशत हो गई है। झारखंड राज्य के स्वास्थ्य सचिव के अनुसार पांच मई के बाद पाए गए कोविड-19 के लगभग सभी मामले वापस आए हुए मजदूरों के ही हैं।

उड़ीसा, राजस्थान, मध्यप्रदेश, केरल आदि राज्यों में भी लौटे हुए मजदूरों में संक्रमण की कमोबेश यही स्थिति पाई गई है। यदि केन्द्र सरकार ने मजदूरों की समस्या पर समय रहते ध्यान दिया होता, तो न सिर्फ वे संक्रमण और परेशानी से बचते, बल्कि अपने राज्यों में संक्रमण के वाहक भी न बनते और शायद आर्थिक गतिविधियों को बेहतर तरीके से शुरू किया जा सकता।

कोरोना वायरस से लड़ने में विभिन्न राज्यों की भूमिका का तुलनात्मक अध्ययन भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि स्वास्थ्य राज्य का विषय है और वैश्वीकरण के बाद अधिकांश राज्यों में स्वास्थ्य का सरकारी ढांचा कमजोर हुआ है। हमें पुनः इस बात पर विचार करना चाहिए कि स्वास्थ्य सुविधाओं के निजीकरण की बजाय शासकीय स्वास्थ्य सुविधाओं को ही मजबूत किया जाए।

कोरोना से हमारी लड़ाई लंबी चलने वाली है। वैक्सीन आने में एक से डेढ़ साल लग सकते हैं। हालांकि हमारे देश की 'भारत बॉयोटेक कंपनी' ने 'भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद' (आईसीएमआर) के साथ मिलकर एक वैक्सीन बनाई है, जिसे 'क्लीनिकल ट्रायल' की अनुमति मिली है। फिलहाल हमारे 70 प्रतिशत संक्रमित 10 से 12 शहरों में हैं। उनमें 'आईसीएमआर' 'हर्ड इम्यूनिटी' (60 से 70 प्रतिशत जनसंख्या प्रभावित होकर अपने में एंटीबॉडी बनाती है, जिससे बीमारी का प्रसार रुक सकता है) की जांच कर रही है, लेकिन हमारा देश काफी बड़ा है, लॉकडाउन खुल गया है जिससे और नए-नए क्षेत्रों में बीमारी फैल सकती है। विशेषज्ञों के अनुसार जुलाई से सितंबर के बीच बीमारी अपने उच्चतम स्तर पर पहुंचेगी। जहां एक लाख मामले होने में 111 दिन लगे थे, वहीं दो लाख होने में सिर्फ 14 दिन और तीन लाख होने में सिर्फ 10 दिन लगे। पहले प्रतिदिन औसतन 15 लोग कोरोना से मर रहे थे, आज औसतन 239 लोग मर रहे हैं। दिल्ली, मुम्बई, अहमदाबाद, चेन्नई जैसे शहरों के अस्पताल में बिस्तर का अभाव हो रहा है। हमारा सीमित मानव संसाधन (डॉक्टर्स, नर्सें, स्वास्थ्य-कर्मी) दबाव में हैं। संक्रमितों की संख्या के मामले में जल्दी ही हम दुनिया में दूसरे नम्बर का देश बन सकते हैं। अतः रोजगार व आर्थिक गतिविधियों के साथ हम इस बीमारी से कैसे निपटेंगे, हमें सोचना होगा।

सरकार ने वादा किया था कि स्वास्थ्य पर 'सकल घरेलू उत्पाद' (जीडीपी) का 2.5 प्रतिशत खर्च करेंगे, उसे पूरा करना चाहिए। स्वास्थ्य सेवाओं में निजी भागीदारी को घटाना चाहिए। इस बीमारी से लड़ने के लिए हम अपने सीमित संसाधनों का बेहतर प्रबंधन के साथ अधिकतम उपयोग कैसे कर सकते हैं, इस पर विभिन्न क्षेत्र के विशषज्ञों की राय से योजना बनाने की आवश्यकता है। ■

एक गांधीवादी चिंतक की गुमनाम विदाई

अरुण कुमार त्रिपाठी

वीरेंद्र कुमार बरनवाल के निधन की सूचना वरिष्ठ पत्रकार और बड़े भाई जयशंकर गुप्त जी की पोस्ट से मिली। उनका निधन 12 जून को हो गया। अचानक मुलाकात की बारह साल पुरानी स्नेहिल स्मृतियां कौंध गईं। 10 नवंबर 1945 को आजमगढ़ में जन्मे बरनवाल जी हीरक जयंती वर्ष में प्रवेश कर चुके थे। अगर होते तो जरूर उनसे मिलकर कुछ कहना सुनना और चिंतन मनन का कार्यक्रम होता। पर एक अदृश्य लेकिन खतरनाक कोरोना वायरस से फैली महामारी ने उन्हें हम लोगों से खामोश तरीके से छीन लिया और उन्हें श्रद्धांजलि देने का अवसर ही नहीं दिया। हालांकि वे लंबे समय से डायबिटीज और परकिंसन जैसी बीमारी से पीड़ित थे और डायबिटीज अपने में और भी कई बीमारियां जिस प्रकार लेकर आती है वह सब उन पर हमलावर थीं।

वीरेंद्र जी से 12 साल पहले मुलाकात हुई थी और उसके बाद कई बार उन्हें सुनने और उनसे बात करने का मौका मिला। वे स्वयं मुझे ढूंढते हुए हिंदुस्तान टाइम्स बिल्डिंग में आए और आते ही बोले यार सुगर डाउन हो रही है इसलिए पहले कुछ खिलाओ। मैं भी डायबिटीज परिवार का नया-नया सदस्य बना था इसलिए इस दिक्कत से परिचित था। सुगर सामान्य करने के लिए कुछ लेने के बाद बातचीत शुरू हुई और उस वार्ता में डॉ. राजेंद्र धोड़पकर और हरजिंदर भी शामिल थे। उनसे बात करके तुलसीदास की वह पंक्तियां याद आ गईं जिसमें उन्होंने सज्जन और दुर्जन को शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष की चंद्रमा की तरह परिभाषित किया है। सज्जन व्यक्ति की आभा शुक्ल पक्ष की चंद्रमा की तरह धीरे-धीरे प्रकट होती है और लगातार बढ़ती जाती है जबकि दुर्जन व्यक्ति के साथ ठीक उलट होता है। उनकी विद्वता भी मेरे सामने धीरे-धीरे खुलती गई और मैं उनका कायल होता गया।

भारतीय और पश्चिमी साहित्य और दर्शन पर अद्भुत पकड़ होने के साथ ही वे स्वाधीनता संग्राम के गंभीर अध्येता थे। दरअसल स्वाधीनता संग्राम उन्हें विरासत में मिला था और उन्होंने भारत मां के लायक सपूत की तरह कभी उससे पीछा नहीं छुड़ाया। उनकी मां गायत्री देवी, पिता दयाराम बरनवाल स्वधीनता सेनानी थे और 1942 के आंदोलन में उन दोनों ने जेल यात्राएं की थीं। बरनवाल जी राजनीति की बजाय पहले अध्यापन और फिर प्रशासनिक सेवा में गए और 2005 में मुख्य आयकर आयुक्त के पद से रिटायर हुए। पर इस कमाऊ पद की ठसक उनके व्यक्तित्व में कहीं थी ही नहीं। उनकी राजनीति समझ तमाम राजनीतिक विश्लेषकों, पत्रकारों और राजनेताओं से कहीं ज्यादा गहरी थी। इस सिलसिले में उनकी तीन पुस्तकें उल्लेखनीय हैं... मुस्लिम नवजागरण और अकबर इलाहाबादी का गांधीनामा, जिन्नाः एक पुनर्दृष्टि, रत्तनबाई जिन्ना और तीसरी लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक हिंद स्वराजः नवसभ्यता विमर्श।

जाहिर सी बात है कि भारत के तमाम बौद्धिकों की तरह उन्हें भी भारत का स्वाधीनता संग्राम प्रेरित करता था और विभाजन का त्रासदी बेचैन करती थी। वे

स्मृति शेष : वीरेंद्र कुमार बरनवाल

मनुष्य की स्वाधीनता के उपासक थे और उसके भीतर बढ़ रही कटुता और शोषण के रिश्ते के विरोधी थे। इसी दृष्टि से वे काले लेखकों की कविताओं के माध्यम से रंगभेद से टकराते थे तो कभी टैगोर, इकबाल, अकबर इलाहाबादी, तुलसीदास, कबीर दास, गालिब और यूरोपीय नवजागरण के रचनाकारों के माध्यम से नई सभ्यता की परिकल्पना खड़ी करते थे। लेकिन उनकी संवेदना में सारे आधुनिक और उत्तर आधुनिक विमर्श मौजूद थे। उसके प्रमाण हैः-नाइजीरियाई कविताओं के अनुवाद-पानी के छींटे सूरज के चेहरे पर, नोबेल पुरस्कार विजेता बोल सोयंका की कविताओं के अनुवाद और युवा जापानी कवयित्री की कविताओं के 'माची तवरा की कविताएं' शीर्षक से अनुवाद।

वैसे तो उनकी सभी रचनाएं और अनुवाद ज्ञान और संवेदना के एक बड़े क्षितिज को उपस्थित करती हैं, लेकिन उनमें अगर किसी एक रचना का जिक्र करना हो तो वह हैः हिंद स्वराजः नवसभ्यता विमर्श। दिल्ली के मित्रों के साथ हम लोग हिंद स्वराज के शताब्दी वर्ष पर सक्रिय थे इसलिए बरनवाल जी ने भी कहीं से सूंघ लिया था कि यह नाचीज भी गांधी का विनम्र विद्यार्थी है। उनसे जब मुलाकात हुई तो वे 'हिंद स्वराज' पर अपनी पुस्तक तैयार कर रहे थे। उस समय एंटोनी जे परेल की किताब आ चुकी थी और हिंद स्वराज पर कई दूसरी टीकाएं मौजूद थीं।

लेकिन बरनवाल जी ने जिस तरह से हिंद स्वराज को एक उत्तर आधुनिक विचार बनाकर प्रस्तुत किया वह अपने में बेजोड़ है। इस पुस्तक में 120 पेज की भूमिका और 42 पेज का परिशिष्ट गांधी विचार के क्षेत्र में बरनवाल जी के मौलिक योगदान के रूप में देखा जा सकता है। उसमें उन्होंने गांधी पर हुए तमाम अध्ययनों और उससे आगे बढ़कर गांधी की प्रासंगिकता को ज्ञान की मिठास से भरे एक स्वास्थ्यवर्धक गाढ़े पेय के रूप में प्रस्तुत किया है। आप उसे जितना ही मथेंगे उतनी ही प्यास बुझाई जा सकेगी। पुस्तक के बीच में हिंद स्वराज के गुजराती पाठ के साथ उसका हिंदी अनुवाद भी दिया गया है।

हिंद स्वराज के इस पुनर्पाठ को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा था, ''अपनी अंतरात्मा में गढ़े-जड़े हिंद स्वराज का अक्षर-अक्षर गांधी ने अपने हृदय के खून से लिखा है। इसके बावजूद उसे पवित्र पाठ मानना उचित नहीं होगा। पर उसे छिद्रान्वेषण और ध्वस्त करने के पूर्वाग्रह के साथ पढ़ना भी एक अत्यंत स्वस्थ दृष्टि का परिचायक होगा। पिछले सौ वर्षों में हम उल्टी दिशा में इतना आगे निकल गए हैं कि उनका रास्ता प्रतिगामी और नितांत अव्यावहारिक लगता है। उसे हम उनकी निगाह से न पढ़ें पर सजग सम्यक विवेक के साथ उसे आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ना आवश्यक है।''

भारतीय और पश्चिमी साहित्य और दर्शन पर अद्भुत पकड़ होने के साथ ही वे स्वाधीनता संग्राम के गंभीर अध्येता थे। दरअसल स्वाधीनता संग्राम उन्हें विरासत में मिला था और उन्होंने भारत मां के लायक सपूत की तरह कभी उससे पीछा नहीं छुड़ाया।

बरनवाल जी ने इस पुस्तक में मेरे जैसे अल्पज्ञानी और साधनविहीन व्यक्ति का न सिर्फ आभार व्यक्त किया है बल्कि उन्होंने स्वयं यह पुस्तक भेंट भी की थी। आज जब दुनिया कोरोना के रूप में प्रकृति और मनुष्य के बीच नए द्वंद्व का सामना कर रही है तो इस विमर्श से कई प्रेरणाएं प्राप्त हो सकती हैं। अपने मित्र और दिल्ली विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डॉ. प्रेम सिंह बताते हैं कि एक बार दिल्ली विश्वविद्यालय में 'गांधी और साहित्य' विषय पर व्याख्यान देने गए बरनवाल जी से जेवर अंतरराष्ट्रीय हवाई अड्डे को गांधी के नाम पर रखने की चर्चा होने लगी। बरनवाल जी चाहते थे कि महात्मा गांधी की 150वीं जयंती के मौके पर जेवर हवाई अड्डे का नाम उनके नाम पर होना चाहिए और इसके लिए दिल्ली के तमाम गांधीवादी प्रयास करें।

हालांकि गांधी कभी हवाई जहाज पर नहीं बैठे थे। इस बारे में लुई फिशर भी जिक्र करते हुए कहते हैं कि बीसवीं सदी का सबसे महान व्यक्ति कभी हवाई जहाज पर नहीं बैठा। लेकिन इस मामले में दूसरा पेंच यह भी है कि हवाई अड्डे और अंतरराष्ट्रीय हवाई सेवाएं जिस प्रकार से उपभोक्तावाद जिसमें शराब और विलासिता की वस्तुएं शामिल हैं की वाहक बन गई हैं उसमें गांधी का नाम रखना कहां तक उचित होता। यह तो गांधी को सरकारी स्तर पर बेचने जैसा ही होता। लेकिन अगर भारत सरकार गांधी को आदर देने का सिर्फ ढकोसला नहीं करती है तो वह इस पूरे हवाई अड्डे को गांधी विचारों के अनुरूप सादगी और नैतिकता पर केंद्रित एक हवाई सेवा केंद्र का रूप दे सकती है। यह बरनवाल जी की एक इच्छा थी और ऐसा करना एक गांधीवादी समाजवादी विचारक का सम्मान होगा। लेकिन उनका असली सम्मान तो तब होगा जब भारत के स्वाधीनता संग्राम का सम्यक और विवेकपूर्ण तरीके से पाठ किया जाए और आज के तमाम भ्रम और शत्रुता का निवारण हो सके। बरनवाल जी एक समतावादी ही नहीं समन्वयवादी विचारक थे। वे विभेद की बजाय सद्भाव में यकीन करते थे। वे स्वधीनता संग्राम को लेकर बहुत आग्रही भी थे। उसकी निर्मम आलोचना को पसंद नहीं करते थे। वे उस कांग्रेस के प्रशंसक थे, जो आजादी के पहले वाली थी। हालांकि जिन्ना जैसी पुस्तक में वे उनकी कमियों की ओर भी ध्यान खींचते हैं, इसके बावजूद वे मानते थे कि सभ्यता मूलक नई दृष्टि से ऐसी बहुत सारी चीजों को जोड़ा जा सकता है, जो अतीत में टूट गई हैं। ऐसे विचारक का जाना उस समय बड़ी क्षति है जब दुनिया पर मनुष्य और प्रकृति और सभ्यताओं के संघर्ष का विमर्श हावी हो रहा है। फिर भी बरनवाल जी शरीर से गए हैं अपने ओजस्वी विचारों के साथ वे हमारे बीच हमेशा रहेंगे। ■

कोयला खदानों की व्यावसायिक नीलामी रद्द होनी चाहिए : एनएपीएम

नई दिल्ली। जन आंदोलनों का राष्ट्रीय समन्वय (एनएपीएम) ने गत 24 जून को एक प्रस्ताव पारित कर कहा कि प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के नेतृत्व में वर्तमान सरकार के विनाशकारी योजनाओं की निंदा करता है। इस सरकार ने मध्य और पूर्वी भारत के जैव-विविधता पूर्ण, आदिवासी इलाकों में 41 कोयला खदानों की 'वर्चुअल नीलामी' करने का निर्णय लिया है। इन इलाकों को मुनाफाखोर घरेलू और विदेशी कॉरपोरेट खनन इकाइयों के लिए खोल देने से यह प्राचीन वन भूमि अपरिवर्तनीय रूप से खतरे में आ जाएगी, पर्यावरणीय प्रदूषण और कोविड के इस समय में सार्वजानिक स्वास्थ्य के लिए खतरा बढ़ेगा और साथ ही, आदिवासी जनसंख्या और वन्यजीवों का एक बड़ा क्षेत्र तबाह हो जाएगा।

यह कदम प्रधानमंत्री का इस देश के नागरिकों के साथ किया जा रहा एक और छलावा है, जिसे 'आत्मनिर्भर भारत' की आड़ में थोपा जा रहा है। 47 वर्षों तक 'कोल इंडिया लिमिटेड' के सार्वजनिक क्षेत्र के स्वामित्व में रहने के बाद, इस कार्यक्षेत्र को अब निजी कम्पनियों के हाथों ऐसे नाजुक 'गैर-हस्तक्षेप क्षेत्रों' और समृद्ध संसाधनों के दोहन के लिए सौंपा जा रहा है।

यहां ध्यान देना जरूरी है कि नीलामी की घोषणा हाल ही में, मार्च 2020 में खनिज कानून (संशोधन) अधिनियम, 2020 (जिसे जनवरी में अध्यादेश के रूप में लागू किया गया था) के पारित होने के बाद की गई, जो कि कोयला खनन (विशेष प्रावधान) अधिनियम-2015 और खनन एवं खनिज (विकास और विनयमन) अधिनियम-1957 के संशोधन के लिए लाया गया था, जिसका उद्देश्य अंतिम उपयोग पर 'प्रतिबंधों को कम' करना और कोयला नीलामी में भागीदारी के लिए पात्रता के मापदंडों में ढील देना था। वास्तव में, अगस्त 2019 में, मोदी सरकार ने कोयला खनन, प्रौद्योगिकी और बिक्री के लिए 'आटोमेटिक रास्ते' से 100% प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को स्वीकृति दे दी थी।

सरकार का यह कदम कई अन्य सुरक्षात्मक और सक्षमात्मक कानूनों को झटका देता है, जिनमें शामिल हैंः

- अनुसूचित जनजाति और अन्य परंपरागत वन निवासी (वन अधिकारों की मान्यता) अधिनियम, 2006 (एफ.आर.ए.)
- पंचायत (अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तार) अधिनियम, 1996 (पेसा) के प्रावधान
- पर्यावरण सुरक्षा अधिनियम, 1986 और पर्यावरण प्रभाव मूल्यांकन अधिसूचना, 2006
- भूमि अधिग्रहण में उचित मुआवजा एवं पारदर्शिता का अधिकार, सुधार तथा पुनर्वास अधिनियम, 2013 (एल.ए.आर.आर.)

नीलामी का एकतरफा फैसला सर्वोच्च न्यायलय के भी कई फैसलों का उल्लंघन करता है। इनमें

- 11 जुलाई, 1997 का समता बनाम आंध्र प्रदेश सरकार व अन्य मामले में दिया गया फैसला, जिसमें कहा गया कि सरकार के साथ-साथ अन्य सभी संस्थाएं 'गैर-आदिवासी' हैं और केवल आदिवासी सहकारी समितियों को ही उनकी भूमि पर खनन करने का अधिकार है।
- 18 अप्रैल, 2013 का ओडिशा खनन कारपोरेशन लिमिटेड बनाम पर्यावरण एवं वन मंत्रालय (नियमगिरि फैसला) में तीन न्यायाधीशों की पीठ ने आदेश पारित किया कि ग्राम सभा के अधिकार को बरकरार रखा कि वह विचार व निर्णय ले सकती है कि उसे अपने क्षेत्र में खनन की इजाजत देनी है या नहीं।
- 8 जुलाई, 2013 का थ्रेस्सिअम्मा जैकब व अन्य बनाम भूवैज्ञानिक, खनन विभाग मामले में दिया गया फैसला, जिसमें जस्टिस आर.एम. लोधा के नेतृत्व में एक तीन न्यायाधीशों की पीठ ने कहा कि खनिजों का स्वामित्व भूमि मालिक के अंतर्गत आता है।
- 25 अगस्त, 2014 का मनोहर लाल शर्मा बनाम प्रमुख सचिव व अन्य (कोलगेट मामला) मामले में दिया गया फैसला, जिसमें मुख्य न्यायाधीश के नेतृत्व में तीन न्यायाधीशों की पीठ ने स्पष्ट रूप से कहा कि कोयला 'राष्ट्रीय सम्पदा' है, जिसे केवल 'आम लोगों की भलाई' व 'सार्वजानिक हित' के लिए उपयोग किया जाना चाहिए।

एनएपीएम ने कहा है कि हम केंद्र सरकार से आह्वान करते हैं कि वह तुरंत 41 कोयला खण्डों में व्यावसायिक नीलामी को वापस ले, जो कि पर्यावरण, अर्थव्यवस्था, पांचों राज्यों के लोगों के अधिकारों और भारत की जलवायु वचनबद्धताओं के हित में है।

विश्व बैंक को शिक्षा प्रणाली सौंपने के खिलाफ एआईएफआरटीई का प्रधानमंत्री को पत्र

नई दिल्ली। भारत सरकार ने अक्तूबर 2019 में 'राज्यों में शिक्षण-शिक्षा और परिणाम की बेहतरी (एसटीएआरएस या स्टार्स)' कार्यक्रम के तहत विश्व बैंक को देश की स्कूली शिक्षा प्रणाली में दखल देने की अनुमति दी थी। अब सरकार ने 24 जून 2020 को विश्व बैंक के साथ एक ऋण-समझौता किया है, जिसके माध्यम से छह राज्यों- हिमाचल प्रदेश, केरल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र ओडिशा और राजस्थान में पायलट प्रोजेक्ट चलाया जाएगा। 'अखिल भारतीय शिक्षा अधिकार मंच' (एआईएफआरटीई) इस बात से आहत और उद्वेलित हैं और सरकार की इस नीति का पुरजोर विरोध करता है। मंच ने इसके विरोध में प्रधानमंत्री को खुला पत्र भेजा है।

मंच के अध्यक्ष प्रो. जगमोहन सिंह और संगठन सचिव डॉक्टर विकास गुप्ता की ओर से भेजे पत्र में कहा गया है, 'हमारा मानना है कि एक ओर जब हम आत्मनिर्भर भारत की बात कर रहे हैं, ऐसे में अपनी शिक्षा-व्यवस्था की रचना और निगरानी में विश्व बैंक जैसी संस्था को जोड़ा जाना बेतुका है।' एआईएफआरटीई के विरोध का मजबूत आधार भी है।

- स्टार्स कार्यक्रम के तहत विश्व बैंक हमारी शिक्षा प्रणाली के हर पहलू- सामग्री, पाठ्यक्रम, पाठ्यविधि, संरचना और परिणाम में दखल देने की हकदार हो जाएगी। इसके एवज में वह छह साल की अवधि में खर्चे का मात्र 14.93%, वहन करेगी, जबकि केंद्र सरकार 53.43% और राज्य सरकार 31.64% खर्च उठाएगी। साथ ही भारत सरकार के 'समग्र शिक्षा अभियान' का वर्ष 2019-25 का कुल खर्च 36 अरब (2707 अरब) डॉलर अनुमानित है। स्टार्स इसका एक हिस्सा है। इस हिसाब से विश्व बैंक का खर्चे में योगदान मात्र 1.4% है। जहां हमारी सरकारें 98.6% खर्च कर सकती है तो मात्र 1.4% के लिए विश्व बैंक से पूरे शिक्षा प्रणाली में दखलंदाजी करवाने का क्या औचित्य? यहां हम 1990 के जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (डीपीईपी), जो पूरी तरह विश्व बैंक द्वारा प्रायोजित और अभिकल्पित था, के अनुभव के बारे में आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहेंगे। इस परियोजना को 8 राज्यों में देश के करीब आधे जिलों में 1993-2002 के दौरान चलाया गया था। इस दौरान राज्य पोषित प्राथमिक शिक्षा व्यवस्था (पहली कक्षा से पांचवीं तक) के गुणवत्ता में तेजी से गिरावट आई। आम जनता और विशेषकर समाज के पिछड़े तबके जैसे अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग, मुसलमान, विमुक्त जनजातियों में इस व्यवस्था के प्रति संदेह और असंतोष फैला। शिक्षा का निजीकरण और व्यापारीकरण भी इस दौरान इतनी तेजी से फैला, जैसा आजादी के बाद कभी नहीं हुआ था। समझने की बात है की विश्व बैंक मूलतः अंतरराष्ट्रीय वित्तीय पूंजी के संरक्षण और बढ़त के लिए काम करता है। इसे भारत जैसे विशाल और विविधतापूर्ण देश के शिक्षा व्यवस्था के बारे में न तो कोई ज्ञान है न ही उसे बेहतर बनाने में कोई रुचि।
- शिक्षा के क्षेत्र में हमारे देश की समृद्ध विरासत एक सदी से भी ज्यादा समय से साम्राज्यवाद और जातिवाद विरोधी और लोकतांत्रिक, समाजवादी मूल्यों से प्रेरित रही है। इसमें ज्योतिराव फुले, सवित्रीबाई फूले, फातिमा बी, दादाभाई नौरोजी, छत्रपति शाहूजी महाराज, गोपालकृष्ण गोखले, पेरियार, नारायण गुरु, गुरुजाड़ अप्पाराव, ईश्वरचंद विद्यासागर, रवीन्द्र नाथ ठाकुर, रोकैया बेगम, सैय्यद अहमद खान, मदन मोहन मालवीय, लाला लाजपत राय, शहीद भगत सिंह, डॉक्टर जाकिर हुसैन, महात्मा गांधी और बाबासाहेब आंबेडकर सरीखे विद्वानों, शिक्षाविदों और समाज सुधारकों द्वारा प्रकल्पित भारतीय सभ्यता और परिस्थितियों के अनुकूल पद्धतियों का समायोजन है। फलतः शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का एक औजार बना है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि पूरे स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान स्वतंत्र भारत की शिक्षा व्यवस्था कैसी होनी चाहिए, यह बहस और विमर्श का एक मुख्य मुद्दा रहा। विभिन्न सम्मेलनों और संविधान सभा के परामर्शों के दौरान ही हमारे आधुनिक शिक्षा-व्यवस्था की नींव रखी गई, जिसे सिंचित कर हमें सामयिक और सार्थक बनाना है।
- पूरे संदर्भ में ऐसा प्रतीत होता है सरकार आर्थिक मदद या शैक्षणिक संसाधन के लिए विश्व बैंक के शरण में नहीं जा रही, अपितु 1990 से ही सरकारें बाजार आधारित नीतियों को शिक्षा के क्षेत्र में लागू करने की प्रक्रिया को पूंजीवादी निजीकरण के अंजाम तक पहुंचाना चाहती हैं। एआईएफआरटीई का मानना है कि इस कदम से अभिजात्य वर्ग ही शिक्षा पाएगा और देश की 85% गरीब जनता, जिनमें अधिकांश अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग, मुसलमान, विमुक्त जनजातियों के बच्चे और बच्चियां हैं, के लिए मुफ्त और गुणवत्तापूर्ण सरकारी शिक्षा-व्यवस्था का रास्ता बंद कर दिया जाएगा।
- आज जब पूरा देश कोविड-19 महामारी को झेल रहा है, भारत सरकार और विश्व बैंक की स्टार्स कार्यक्रम शुरू करने की जल्दबाजी लोगों के जेहन में और भी ज्यादा भ्रम पैदा कर रहा है। देश का हर नागरिक अभी भोजन, रोजगार, स्वास्थ्य एवं अर्थ संबंधी कठिन मुद्दों का सामना दिन-रात कर रहा है और इन परिस्थितियों में अभिभावकों, छात्रों, शिक्षकों और शिक्षाविदों आदि से बिना विस्तृत विमर्श के इस व्यवस्था को लागू करना अनुचित होगा।

पत्र में स्टार्स व्यवस्था की कई खामियां गिनाई गई हैं। इस पूरे संदर्भ में एआईएफआरटीई मांग करती है कि भारत सरकार विश्व बैंक के साथ स्टार्स कार्यक्रम के लिए किसी भी प्रकार का करार न करे, न हीं कोई ऋण या अनुदान इस काम के लिए लेने का प्रयास करे। एआईएफआरटीई 22 राज्य/ केंद्र शासित प्रदेशों के 80 से भी अधिक छात्रों, युवाओं, शिक्षकों और सामाजिक संगठनों का मंच है, जो 2009 से शिक्षा अधिकार क्षेत्र में सक्रिय है। ■

सामयिक वार्ता R.N.I. पंजीयन संख्या 31211/77

कबीर किसके हैं

उमेश प्रसाद सिंह

अभी थोड़े दिनों पहले मैंने एक प्रख्यात लेखिका का कबीर के बारे में एक लेख पढ़ा। उस लेख में उन्होंने अपनी कल्पना-शक्ति से कबीर के अनेक काव्य-उद्धरण देकर उन्हें हिंदू सिद्ध करने में अपनी तरफ से कोई कसर न छोड़ी। उनका तर्क है कि कबीर के काव्य में हिंदू धर्म के प्रतीकों, पद्धतियों और आचार-व्यवहार की जितनी गहरी पकड़ मिलती है, उससे उनका हिंदू होना सिद्ध होता है। मजेदार बात है कि कबीर की जाति के बारे में इतिहास में बहस करने का अवकाश है। तर्क रखने की गुंजाइश है। मैं सोच में पड़ गया हूं कि कबीर की जाति तय कर लेने से उनकी कविता के अर्थ में, उसकी व्यंजना में, उसकी व्याप्ति में कुछ फर्क पड़ने की संभावना दिखाई देती है क्या? अगर ऐसा है, तो ठीक, चलो पहले जाति ही तय कर लें। कविता जो जाति-धर्म की सरहदों को पार करके पैदा होती है, उसको समझने के लिए जाति-निर्धारण की आवश्यकता कैसे आन पड़ी?

जहां तक हिंदू प्रतीकों, विश्वासों और व्यवहारों की जानकारी और कविता में प्रयोग की बात है तो इसी तर्क के आधार पर जायसी और रहीम को भी हिंदू होना पड़ेगा। मेरा मन उन लेखिका से बार-बार यह पूछना चाहता है कि कबीर के हिंदू ठहरा दिए जाने से हिंदुओं को कोई अतिरिक्त लाभ मिल सकेगा क्या? कबीर के हिंदू न होने की दशा में हिंदुओं को उनकी वजह से कुछ नुकसान उठाना पड़ता है क्या?

उपर्युक्त लेख को लेकर मन में सोच-विचार चल ही रहा था कि कबीर के बारे में एक और लेख पढ़ा, एक प्रतिष्ठित पत्रिका में एक प्रतिष्ठित मुसलमान लेखक का। इस लेख में उन्होंने बड़े परिश्रम से यह प्रमाणित करने की कोशिश की कि कबीर को मुसलिम धर्म-व्यवहार की जानकारी नहीं थी। उनकी कविता में इस्लाम की रीति-नीति का त्रुटिपूर्ण वर्णन कई जगह मिलता है। उनके विचार से, कबीर मुसलमान नहीं मालूम पड़ते हैं।

कबीर को लेकर यह विपर्यय कितना बेधक है। एक हिंदूवादी लेखिका कबीर को हिंदू साबित करने पर तुली हुई हैं। एक धर्मनिरपेक्ष कहा जाने वाला मुसलमान लेखक कबीर को मुसलमान न मानने पर आमादा है। दोनों की निष्पत्तियां एक हैं। पता नहीं क्यों, हमारे समय में कबीर से अधिक महत्त्व की चीज उनकी जाति हो गई है। क्या अब कविता के बारे में भी सोशल इंजीनियरिंग के नुस्खे आजमाने का समय शुरू होने वाला है? ऐसा हुआ तो कितने शर्म की बात होगी!

एक मुलाकात में दलित विमर्श के एक क्रांतिकारी कवि ने बताया कि उनका पक्का विश्वास है कि कबीर की स्वाभाविक मृत्यु नहीं हुई थी, बल्कि कट्टरपंथियों ने उनकी हत्या कर दी थी। उन्होंने बताया कि उनके विश्वास का आधार यह है कि कबीर की क्रांति-चेतना को कट्टरपंथी कभी बर्दाश्त कर ही नहीं सकते। कबीर जैसी कविता लिखने वाले की हत्या अवश्यंभावी है। इस दारुण सच पर इतिहासकारों ने जान-बूझकर पर्दा डालने के लिए चमत्कारिक घटनाओं की कल्पना करके उनकी मृत्यु से संबंधित अविश्वसनीय किंवदंतियों को प्रचारित कर दिया है।

यह सब पढ़कर और सुनकर हतप्रभ हूं। मेरा मन कबीर के समय में अपने को और अपने समय में कबीर को देखने को विकल है।

मैं देख रहा हूं, हमारे समय में कबीर बीच बाजार में खड़े हैं। उनके हाथ में लुकाठी है। जलती हुई लुकाठी। उनकी लुकाठी में कविता की आग जल रही है। यह आग उनके आत्म-बोध के तेल से प्रज्वलित है। मगर हमने तो कबीर की कविता में व्याप्त उनके आत्म-बोध को न जाने कब से ठुकरा रखा है। अब पाखंड पर उनके प्रहार को भी हम भुनाने की जुगत में लगे हैं। एक पक्ष सोचता है कि हिंदुओं के पाखंड पर प्रहार करने वाला हिंदू ही हो तो बेहतर! दूसरे पक्ष को इस्लाम में व्याप्त पाखंड को उजागर करने वाला मुसलमान किसी हाल में कबूल नहीं है!

इधर कबीर हैं कि हमारे लोकतंत्र के सट्टा बाजार में अपनी कविता की लुकाठी लिए खड़े हैं।

सभी अपनी-अपनी दुकान की तरफ खींच रहे हैं कबीर को। मगर कबीर हैं कि टस से मस नहीं हो रहे। कबीर बीच बाजार में खड़े हैं, सभी दुकानों से समान दूरी पर। कबीर अकेले रहेंगे, किसी दुकानदार के साथ नहीं जाएंगे। न हिंदू दुकानदार के साथ, न मुसलिम दुकानदार के साथ, न किसी अन्य दुकानदार के साथ। जहां भी पाखंड है, तंगनजरी है, छल है, दिखावा है, कबीर की कविता उसका उपहास करती रहेगी। ■

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक अतुल कुमार प्रसाद सिंह द्वारा 14, समसपुर जागीर, पांडवनगर, दिल्ली–110091 से प्रकाशित और दीप कलर स्कैन (प्रा.) लिमिटेड, एफ–5, गली नं. 4ए, फ्रेंड्स कॉलोनी इंडस्ट्रीयल एरिया, दिल्ली–95 से मुद्रित। संपादक : अफलातून